अवचेतन मन से सम्पर्क

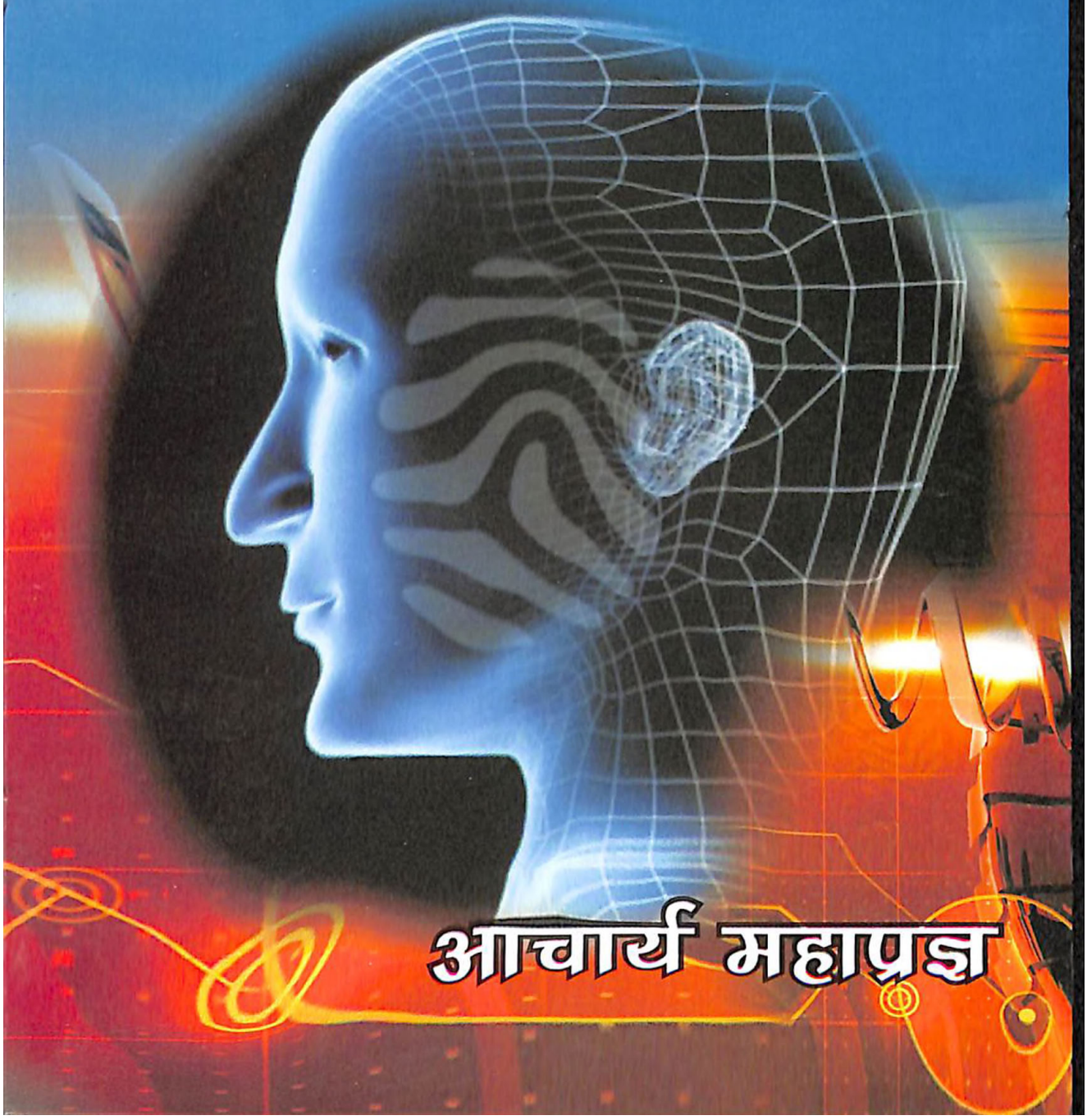

आचार्य महाप्रज्ञ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अवचेतन मन से सम्पर्क

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती
लाडनूं-३४१३०६ (राज.)

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संपादक : **आगम मनीषी मुनि दुलहराज**

प्रकाशक : **जैन विश्व भारती**
लाडनूं - 341306 (राज.)

नवीन संस्करण : 2013

मूल्य : ₹ 90.00 मात्र

मुद्रक : **कला भारती**
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

AVACHETAN MAN SE SAMPARK
Acharya Mahaprajna Rs. 90/-

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रस्तुति

मन स्वय चेतन नहीं है, पर वह चेतन का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर रहा है। मन का कार्य प्रत्यक्ष है। चित्त और मन में विभाजन की रेखा स्पष्ट है। चित्त चैतन्यधर्मा है और मन चैतन्यधर्मा नही है। फिर भी काम चलाने के लिए बहुत सारे दार्शनिकों, चिंतकों, मनोविदों ने चित्त को गौण कर मन को ही सर्वव्यापी बना दिया। वह तीनों स्तरों पर कार्य करता है—अचेतन, अवचेतन और चेतन। यह मनोविज्ञान की भाषा है। प्रेक्षाध्यान की भाषा में अचेतन को कर्मशरीर के साथ प्रवृत्त चेतना, अवचेतन को तैजस शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना और चेतन को औदारिक या स्थूल शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना कहा जा सकता है। हमारा चेतना या जागृत मन ही सब कुछ नही है। उसकी पृष्ठभूमि में चेतना के अनेक स्तर कार्यरत हैं। उन्हें समझे बिना जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती और आचरण, व्यवहार तथा सम्बन्धों की व्याख्या भी नही की जा सकती।

वर्तमान समस्या के संदर्भ में तीन ज्वलंत प्रश्न उभर कर सामने आ रहे हैं। उन्हें समाहित करना युग की अनिवार्यता है। मानसिक अशांति क्यों? वैज्ञानिक विकास के साथ सुख-सुविधा की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होने पर भी हिंसा की उग्रता क्यों? नैतिक चेतना का अभाव क्यों? इनके समाधान के लिए बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन, विधायक दृष्टिकोण और सम्बन्धों का नया क्षितिज—यह मार्ग खोजना होगा और उसके लिए अवचेतन और अचेतन मन से सम्बन्ध स्थापित करना होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में अचेतन और चेतन मन के कुछ सम्पर्क-सूत्र उपलब्ध हैं। वे पथ की खोज में हमारा सहयोग कर सकते हैं।

आचार्य श्री तुलसी के आशीर्वाद ने अध्यात्म के नये आयाम विकसित करने में गति दी है। मुनि दुलहराजजी ने सहज संभूत विचार-बिंदुओं को सम्पादित कर ग्रन्थ का आकार दिया है। मुनि धनंजयकुमार ने शिविर के प्रवचनों को व्यवस्थित कर ग्रन्थाकार होने में सहयोग दिया है। 'तुलसी अध्यात्म नीडम' के निदेशक धर्मानन्दजी ने उन्हें प्रकाशित कर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। पाठक प्रेक्षाध्यान के प्रति स्वयं प्रेरित हैं और उससे लाभान्वित होते हैं, ऐसा मुझे ज्ञात है। मनुष्य की अध्यात्म चेतना जागे, बस यही है कथ्य और यही है हमारा गंतव्य।

लाडनूं — युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती, 17.4.84

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनुक्रम

ज्ञात-अज्ञात	पृष्ठ संख्या
1. नैतिकता की आधारशिला—काम परिष्कार	3
2. काम-परिष्कार का पहला सूत्र—मुक्तिदर्शन	13
3. काम-परिष्कार का दूसरा सूत्र—परिणाम दर्शन	20
4. अवचेतन मन से सम्पर्क	29
5. मस्तिष्क के नियंत्रण का विकास	36
6. बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन	44
7. विधायक दृष्टिकोण	49
8. संबंधों का नया क्षितिज	57
मन की सीमा	
9. मन की शांति का प्रश्न	67
10. भाव और आयुर्विज्ञान	76
11. मनोभाव कैसे जानें?	85
12. मनोभाव की प्रक्रिया : भाव वशीकरण की प्रक्रिया	95
13. भाव-परिवर्तन और मनोबल	104
14. भाव और अध्यात्म विद्या	111
15. यथार्थवादी दृष्टिकोण	119
चेतना के आयाम	
16. अतीत और भविष्य का सम्पर्क सूत्र	131
17. जीवन विज्ञान	139
18. अनेक रोग : अनेक चिकित्सा	148
19. बिम्ब और प्रतिबिम्ब	157
20. सामाजिक चेतना	165
21. नैतिक चेतना	174
22. अध्यात्म चेतना	181
23. जीवन विद्या	187

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ज्ञात : अज्ञात

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नैतिकता की आधारशिला : काम-परिष्कार

दीर्घश्वास का प्रयोग अपने व्यक्तित्व को पहचानने का प्रयोग है, अपने आपको पहचानने का प्रयोग है। श्वास एक माध्यम है—दूसरों को पहचानने का और स्वयं को पहचानने का। हर व्यक्ति में परिवर्तन होते हैं, कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म। परिवर्तन का चक्र निरन्तर चलता रहता है। ये परिवर्तन श्वास के माध्यम से जाने जा सकते हैं। विचार और अन्तर्भावों में होने वाले परिवर्तन भी श्वास के द्वारा जाने जा सकते हैं। व्यक्ति की पहचान का बहुत बड़ा माध्यम है श्वास।

आज इस वैज्ञानिक युग में दूसरों के सूक्ष्म भावों को जानने के लिए अनेक यंत्रों का आविष्कार हुआ है। पुराने जमाने में यन्त्रणाएं देकर अपराधी को अपराध स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता था। अपराधी अगर अपराध स्वीकार नही करता तो बात बनती नहीं। अब ऐसे यन्त्र विकसित हो चुके हैं कि अपराधी को कुछ करने की जरूरत नही है। यन्त्र स्वयं बतला देते हैं कि यह अपराधी सच-सच कह रहा है या झूठ बोल रहा है।

इजरायल में एक यंत्र बनाया गया है। उसका नाम है—'माइक्रोवेव रेस्पीरेशन मोनीटर' यानी अणु प्रबोध, अणुतरंग, भाव प्रबोध। यह यन्त्र आधे मील की दूरी से यह ज्ञात कर लेता है कि व्यक्ति झूठ बोल रहा है या सच कह रहा है। यदि व्यक्ति झूठ बोलता है तो श्वास के प्रकम्पनों में अन्तर आ जाएगा। श्वास-प्रबोध—श्वास की अणुतरंगें श्वास का अनुमापन कर पता लगा लेती हैं। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि व्यक्ति के भावों का सम्बन्ध श्वास के साथ कितना जुड़ा हुआ है। जिस प्रकार के मनोभाव होते हैं, श्वास की गति उसी प्रकार की बन जाती है।

श्वास और भाव परस्पर गुंथे हुए हैं। एक को जानकर दूसरे को जाना जा सकता है। भाव के माध्यम से श्वास को जाना जा सकता है और श्वास के माध्यम से भाव को जाना जा सकता है। श्वास की गति को समझना बहुत बड़ा विज्ञान है। इससे अतीत और भविष्य को भी जाना जा सकता है और वर्तमान का भी मूल्यांकन किया जा सकता है। श्वास की गति के आधार पर 'स्वर-विज्ञान' का विकास हुआ था।

व्यक्ति को पहचानने के दो साधन हैं—आकृतिविज्ञान और श्वास-विज्ञान।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आकृति के आधार पर व्यक्तित्व की पहचान हो सकती है। एक आकृति ऐसी होती है जिसमें शांति और संतोष की झलक होती है, प्रसन्नता और स्थिरता का भाव टपकता है। एक आकृति ऐसी होती है, जिसमें अशांति, असंतोष, व्यग्रता, छटपटाहट, चंचलता और विषाद का भाव टपकता रहता है। इन दोनों आकृतियों के आधार पर बिना कुछ पूछे ही व्यक्तित्व का पता लग जाएगा। आकृति प्रमाण होती है, स्वयंभू साक्षी होती है। इस आधार पर आकृतिविज्ञान का विकास हुआ है और उसके जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे ही सही प्रमाणित हुए हैं।

दूसरा है—श्वास विज्ञान। श्वास के आधार पर व्यक्ति की पहचान हो जाती है। यदि श्वास तेज और छोटी होगी तो पता लग जाएगा कि व्यक्ति असंतोष से घिरा हुआ है, मानसिक समस्याओं से उलझा हुआ है। वह विषादग्रस्त है। उसमें हीनता की घनघोर घटाएं उमड़ रही हैं, व्यग्रता है, गहरी चंचलता और टीस है। यदि श्वास शान्त और मन्द है तो पता लग जाएगा कि व्यक्ति बहुत शान्ति से जी रहा है, उसमें सन्तोष का सागर लहरा रहा है और प्रसन्नता फूट रही है।

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे, जो प्रसन्नता का जीवन जीते हैं और दूसरे वे, जो अप्रसन्नता का जीवन जीते हैं। एक आदमी प्रसन्नता से भरा है और दूसरा व्यक्ति विषाद से घिरा हुआ है। यह अन्तर क्यों? दोनों प्रसन्न क्यों नहीं? दोनों विषण्ण क्यों नहीं? यदि प्रसन्न हों तो दोनों प्रसन्न होने चाहिए और यदि विषण्ण हों तो दोनों विषण्ण होने चाहिए। एक प्रसन्न और एक विषण्ण—यह भेद क्यों? जब हम भेद की खोज में चलते हैं तो हमें कारण भी उपलब्ध हो जाता है। वह कारण है—'काम'—कामना।

मनोविज्ञान की भाषा में 'काम' मौलिक मनोवृत्ति है। धर्मशास्त्र की भाषा में 'कामना' अतीत का संस्कार है। प्रत्येक व्यक्ति अतीत से जुड़ा हुआ है। कोई भी व्यक्ति अतीत से कटकर इस दुनिया में नहीं जी सकता। आदमी वर्तमान में जीता है, वर्तमान में श्वास लेता है, पर वह जुड़ा हुआ है अतीत से। वह अतीत से इतना संग्रह और संचय कर रहा है कि यदि अतीत का संग्रह समाप्त हो जाए तो व्यक्ति भी समाप्त हो जाएगा । वह इस दुनिया में नहीं रहेगा। उसकी दुनिया दूसरी होगी। फिर वह सामाजिक नहीं रहेगा। किसी लोक का प्राणी नहीं रहेगा। वह केवल आत्मा ही रहेगा। आत्मा बचेगी, प्राण नहीं बचेगा। प्राण के बिना कैसा प्राणी?

हम सब अतीत के साथ जुड़े रहते हैं। उस शृंखला की कड़ियां हैं—अतीत का संस्कार, अतीत का कर्म-बंधन, अतीत की वृत्तियां, अतीत की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संज्ञाएं, अतीत की वासनाएं, अतीत की मनोग्रंथियां। ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा एक ही सचाई को अभिव्यक्त किया गया है।

अतीत से हमारा सम्बन्ध है। वर्तमान में हम श्वास ले रहे हैं। वह अतीत हमारे वर्तमान पर हावी है। 'काम' या 'कामना' का एक संस्कार है। प्रत्येक प्राणी में कामना होती है। एक भी प्राणी ऐसा नहीं मिलता, जिसमें कामना न हो। काम एक पुरुषार्थ है। मनुष्य का एक लक्षण है—कामना या इच्छा। इच्छा के द्वारा जाना जा सकता है कि यह प्राणी है और विकसित इच्छा के द्वारा जाना जा सकता है कि यह मनुष्य है।

चेतना का एक लक्षण है—इच्छा। जैन तर्कशास्त्र में यह सिद्ध किया गया है कि वायु सजीव है, सचेतन है। प्रश्न हुआ—हवा को सजीव कहने का प्रबल तर्क क्या है? आचार्यों ने कहा—हवा सजीव है, क्योंकि यह तिरछी गति करती है। यह जीव या सचेतन का एक लक्षण है। अचेतन तिरछी गति नहीं कर सकता। तिरछी गति इच्छा-प्रेरित होती है। इच्छा स्वतंत्र चेतना वाला ही कर सकता है। जिसमें यह स्वतंत्र चेतना नहीं होती वह तिरछी गति नहीं कर सकता। पत्थर को ऊपर फेंको। वह सीधा में ऊपर जाएगा। वह अपनी इच्छा के अनुसार गति नहीं कर सकता। उसकी गति नियत दिशा में ही होगी। हवा सचेतन है। उसमें स्वतंत्र इच्छा है। वह तिरछी गति कर सकती है। जिसमें इच्छा-प्रेरित गति होती है, वह सजीव होता है। निर्जीव में इच्छा प्रेरित गति नहीं होती। 'इच्छा' प्राणी होने का लक्षण है। इच्छा का विकास चेतना का लक्षण है।

जीवन के चार आयतन हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम पहला आयतन है। काम भीतर रहता है। उसकी अभिव्यक्तियां बाहर में होती हैं। 'काम' की जैसी अभिव्यक्ति होती है, वैसी आकृति बन जाती है, वैसी प्रकृति बन जाती है और वैसा ही श्वास बन जाता है। भीतर काम का एक चक्र चलता रहता है और उसके आधार पर सारे परिवर्तन घटित हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति ने 'काम' का परिष्कार नहीं किया, वह अशांति, असंतोष, अप्रसन्नता और अस्थिरता का जीवन जीएगा।

जिस व्यक्ति ने 'काम' का परिष्कार कर लिया, वह शांति, संतोष, प्रसन्नता और स्थिरता का जीवन जीएगा।

प्रश्न है परिष्कार का। इस शरीर में रहने वाला, इन्द्रिय और मन के जगत में जीने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वथा 'अकाम' बन जाए, सर्वथा कामना से मुक्त हो जाए, यह कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु काम के परिष्कार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की कल्पना की जा सकती है। यह सोचा जा सकता है कि किस व्यक्ति ने कितना परिष्कार किया है, कितना शोधन किया है। शोधन का सिद्धान्त संभव बनता है, 'अकाम' का सिद्धांत सम्भव नहीं बनता। अकाम की स्थिति वीतराग की स्थिति है। जब वह स्थिति प्राप्त होती है, तब व्यक्ति सांसारिक सम्बन्धों से टूट जाता है। उसका प्रस्थान दूसरे संसार के लिए हो जाता है।

दो बातें हैं। एक है—कामना की पूर्ति और दूसरी है—कामना का परिष्कार।

कामना की पूर्ति का साधन है—अर्थ। यह जीवन का दूसरा पुरुषार्थ है। अर्थ के आधार पर ही कामनाओं को पूरा किया जाता है। मन में कामना जागती है। अर्थ-व्यय से वह पूरी हो जाती है। मन में कामना जागी, अमुक प्रकार का कपड़ा पहनूं, अमुक मिठाई खाऊं। पास में पैसा है। बाजार में गया, कपड़ा खरीदा, पहन लिया। मिठाई खरीदी, खा ली। कामना की पूर्ति हो गई।

कामना की पूर्ति का साधन अर्थ जीवन का दूसरा आयतन बन जाता है। निरंकुश कामना और निरंकुश अर्थ—ये दोनों अपरिष्कृत रहकर व्यक्ति में जो परिवर्तन लाते हैं, वह परिवर्तन मानसिक अशांति को जन्म देता है। मानसिक अशांति के दो मुख्य कारण हैं—निरंकुश काम और निरंकुश अर्थ। जब तक इन दोनों का परिष्कार घटित नहीं होता, तब तक आदमी बेचैनी, अवसाद, हीनता, डिप्रेसन आदि से बच नहीं सकता।

आदमी कामनाओं से आक्रान्त है। उनकी पूर्ति के लिए उसने अर्थ भी जुटा लिया किंतु उसकी मानसिक व्यग्रता आकाश को छूने लग गई। वह और अधिक अशांत हो गया। आज के विकसित राष्ट्र जो साधनों से संपन्न हैं, जिनके पास प्रचुर वैभव है, संपत्ति है, अर्थ का स्रोत है, वे इस मानसिक अशांति के जीते जागते उदाहरण हैं।

एक भाई ने बताया—संसार का छियालीस प्रतिशत धन केवल एक राष्ट्र अमेरिका के पास है। शेष चौवन प्रतिशत धन सारे संसार के पास है। एक राष्ट्र के पास इतना प्रचुर धन? क्या होगा? जितना प्रचुर धन उतना ही प्रचुर असंतोष! इस असंतोष की तुलना में कहा जा सकता है कि विश्व में जितने अपराध होते हैं उनका छियालीस प्रतिशत हिस्सा अमेरिका को मिलेगा और चौवन प्रतिशत शेष संसार को प्राप्त होगा। कितना अपराध ! धन की प्रचुरता, असंतोष की प्रचुरता और अपराध की प्रचुरता।

इन सारे तथ्यान्वेषणों से एक निष्कर्ष निकलता है—अपरिष्कृत काम और अर्थ नई व्याधियों को उत्पन्न करते हैं, नई व्याधियों को जन्म देते हैं,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मानसिक दुःख को प्रगट करते हैं। इस स्थिति में यह अपेक्षा प्रत्यक्ष होती है कि इन दोनों का परिष्कार किया जाए।

परिष्कार का साधन है—धर्म। धर्म के द्वारा काम का परिष्कार किया जा सकता है। धर्म के द्वारा अर्थ का परिष्कार किया जा सकता है। काम शुद्धि और अर्थ शुद्धि—दोनों अपेक्षित हैं।

आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति में विषों का उपयोग होता है। उसमें पारद का भी उपयोग होता है और गंधक तथा संखिया का भी उपयोग होता है। अपरिष्कृत पारद, गंधक या संखिया बहुत हानिकारक होता है। इनके सेवन से मृत्यु हो जाती है। इनका शोधन हो जाने पर ये उपयोगी बन जाते हैं। शोधन किया हुआ पारद, संखिया या गंधक मारने वाले नही, उबारने वाले बन जाते हैं। शोधन के पश्चात इनकी विषैली शक्ति कम हो जाती है और इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है।

काम और अर्थ का परिष्कार हो जाने पर शक्ति में परिवर्तन आ जाता है। जितनी बुराइयां, अनैतिकता, अनाचार और अप्रामाणिकताएं होती हैं, वे सब अपरिष्कृत काम के कारण होती हैं। उनके मूल में काम है।

काम परिष्कृत भी होता है और अपरिष्कृत भी होता है।

एक व्यक्ति था विद्वान और वैभवशाली। विद्या और लक्ष्मी का योग कम मिलता है, पर वह विद्यावान भी था और लक्ष्मीवान भी था। एक पुजारी उसके पास आकर बोला—पंडितवर! आज रात को मुझे एक सपना आया। उसमें मैंने भगवान को देखा। उन्होंने मुझे कहा—जाओ, उस पंडित के पास और उसे कहो कि भगवान का आदेश है कि दस हजार रुपये वह तुम्हें दे। उन रुपयों से नया मंदिर बनवाना है। इसलिए मैं आया हूं। आप मुझे रुपया दें और भगवद आज्ञा का पालन करें।

धनी पंडित ने सोचा—यह मुझे ठगने आया है और वह भी भगवान के नाम पर! भगवान क्यों कहने आते नए मंदिर के निर्माण के लिए। पंडित ने कहा—पुजारीजी! बात तो तुमने अच्छी कही। भगवान का आदेश मानना ही होगा। रात भर विश्राम करो। मैं सोच लूं। प्रातःकाल जो कुछ होगा, देखा जाएगा।

पुजारी रात भर वहीं रहा। सोचा, पंडित मेरी ठगाई में आ गया। रात बीती। प्रभात हुआ। पण्डित उठा। पण्डित ने कहा—पुजारीजी! तुमने कल भगवान का जो आदेश कहा था, वह ठीक था। आज रात को मेरे पास भी भगवान आए। सपने में उनका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने कहा—'सामने जो चबूतरा बना है, उसके नीचे दस हजार रुपये गढ़े हुए हैं। पुजारी को कहना कि वह चबूतरे को उखाड़ कर दस हजार रुपए को ले ले और मंदिर बनवा दे।'

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पुजारी बोला—'पण्डित जी! खुदाई करूं और रुपए न मिले तो क्या होगा?' पण्डित ने कहा—'लगता है, तुम्हें भगवान के दर्शन हुए ही नहीं। तुम्हें भगवान पर भरोसा ही नहीं है। जैसे तुमको भगवान कह गए हैं, वैसे ही मुझे भी कह गए हैं। जैसे तुम्हें अपने भगवान पर भरोसा है, वैसे मेरे भगवान पर भरोसा क्यों नहीं है? झूठे हो तुम! चले जाओ यहां से।'

पुजारी अपना-सा मुंह लेकर चलता बना।

यह सारा अपरिष्कृत कामना का परिणाम है। सारी प्रवंचनाएं, छलनाएं और ठगाइयां अपरिष्कृत काम या इच्छा से पैदा होती हैं। जब कामना का परिष्कार होता है तब आदमी में ठगने की भावना नहीं होती, विसर्जन की भावना, देने की भावना जाग जाती है। वह अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी विसर्जन कर देता है।

एस्किमो जाति, जो ध्रुव प्रदेश में रहती है, को काम परिष्कार के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनकी कामना इतनी परिष्कृत है कि पदार्थ के प्रति उनकी मूर्च्छा नहीं के समान है। दूसरों को प्रिय लगने वाला वस्तु का विसर्जन करने में वे कभी पीछे नहीं रहते। उनका पहला तर्क है—हम वस्तु को भोग चुके हैं। अब इसके प्रति मन में कोई आकर्षण नहीं बचा है। जिसके मन में आकर्षण है, वे इसे भोगें। दूसरा तर्क है—'संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता, समाज का अधिकार होता है, पूरी मनुष्य जाति का अधिकार होता है। जैसे यह वस्तु हमारी है, वैसे ही यह तुम्हारी है। तुम इसका उपयोग करो।'

यह है परिष्कृत कामना का विचार। कामना के परिष्कृत होने पर ठगने, लूटने या हड़पने की भावना समाप्त हो जाती है।

महाकवि माघ की यह सर्वविदित प्रकृति थी कि जब कोई व्यक्ति याचना कर लेता तो वे बिना दिए नहीं रहते। जो वस्तु उनके पास होती, मांग करने वाले को वह निश्चित ही मिल जाती। पंडित थे। सरस्वती के प्रिय पुत्र। लक्ष्मी का वरदान प्राप्त नहीं था। काव्य-रचना से कुछ मिल जाता पर दान की इस प्रवृत्ति ने उन्हें भयंकर गरीबी में ला पटका।

एक बार एक व्यक्ति आकर बोला—'पंडित प्रवर!' लड़की का विवाह करना है। पैसा नहीं है पास में। आप ही लज्जा रख सकते हैं।'

कवि माघ ने सोचा—अब क्या दूं? पास में फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसकी मांग कैसे पूरी करूं? उन्होंने इधर-उधर देखा। देने योग्य कोई भी वस्तु नहीं मिली। अचानक उनकी दृष्टि अपनी पत्नी पर जा टिकी। वह सो रही थी। उसके हाथ में स्वर्ण-कंगन थे। माघ कवि चुपके से वहां गए। धीरे से एक हाथ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का कंगन निकाला। पत्नी जाग गई। उसने जान लिया—कोई न कोई याचक आया है। वह तत्काल बोली—यह दूसरा कंगन और ले जाओ। एक कंगन से क्या होगा?

यह है कामना का परिष्कार। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का मनोभाव बदल जाता है, उदारता आ जाती है। जब काम-शुद्धि घटित होती है तब साथ-साथ अर्थ-शुद्धि भी होती है।

आज नैतिक आचरण को मिटाने के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। शासन और समाज—दोनों इसमें लगे हुए हैं। दंड शक्ति को काम में लिया जा रहा है। नए-नए कानून बन रहे हैं। प्रश्न होता है—यदि काम अपरिष्कृत बना रहेगा तो अर्थ-शुद्धि घटित हो सकेगी? ऐसा होना संभव नही है। रोग कहीं है और दवाई किसी को दी जा रही है। बीमारी कहीं और दवा कहीं! बीमारी तो है काम अशुद्धि की और प्रयत्न हो रहा है अर्थ-शुद्धि का। कितना विपर्यास। यह विपर्यास इसलिए चलता है कि हम सचाई का अनुभव नहीं करते, सचाई की दिशा में प्रस्थान नहीं करते। जब तक आदमी सचाई की दिशा में प्रस्थित नहीं होगा, जब तक वह धर्म की खोज में नही चलेगा, तब तक वह मूल भूल को नहीं पकड़ पाएगा। जब तक मूल पकड़ में नहीं आएगा, तब तक फूल और पत्तों को तोड़ने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। पतझड़ का होना और वसन्त का आना—यह नियति का चक्र है, स्वाभाविक क्रम है। हम मूल को पकड़ें।

अर्थ-शुद्धि द्वयं है। प्रथम है काम-शुद्धि। अर्थ शुद्धि के अनेक प्रयत्न हैं। इतना नियंत्रण है, टेक्स है कि अमुक धनराशि से अधिक पास में न रखी जाए। ये अर्थ-शुद्धि के प्रयत्न, समाजवाद और अर्थ-विभाजन के प्रयत्न, गरीबी और अमीरी को मिटाने के प्रयत्न—ये सारे प्रयत्न इसीलिए अर्थहीन हो रहे हैं क्योंकि इनके साथ धर्म का योग नहीं है।

धर्म के बिना काम का परिष्कार नहीं होता और काम के परिष्कार के बिना अर्थ का परिष्कार नहीं हो सकता। केवल अर्थ-शुद्धि घटित करने का अर्थ है—हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, कारण को मिटाना नहीं चाहते। यह एक भयंकर दार्शनिक भूल है। हम प्रवृत्ति को मिटाना नहीं चाहते, परिणाम को मिटाना चाहते हैं। हम परिणाम का शोधन करना चाहते हैं पर प्रवृत्ति के शोधन की बात नहीं सोचते। प्रवृत्ति है तो परिणाम होगा ही। केवल परिणाम का शोधन हो नहीं सकता।

धर्म एक खोज है प्रवृत्ति के शोधन की, काम के परिष्कार की। इसमें इस बात पर बल नहीं दिया गया कि अर्थ का अर्जन अधिक मत करो, इस

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बात पर अधिक बल दिया गया कि कामना का परिष्कार करो, साधन-शुद्धि को ध्यान में रखो। महावीर ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए कहा—मूर्च्छा परिग्रह है। उन्होंने यह नही कहा—धन परिग्रह है। मूल परिग्रह है काम, कामना। अर्थ दूसरे नम्बर में परिग्रह बनता है। कपड़ा, रोटी और मकान परिग्रह बनते हैं, पर ये मूल परिग्रह नही हैं। कपड़ा, मकान और रोटी परमाणु है, परमाणुओं के पिण्ड हैं, वे बेचारे क्या परिग्रह बनेंगे! परमाणु हमारा न कुछ बिगाड़ता है और न कुछ भला करता है। परमाणु परमाणु है। चैतन्य चैतन्य है वह परिग्रह नहीं बनता। परिग्रह बनता है काम। कहना यह चाहिए, एक ही बात हमारे समक्ष दो रूपों में प्रगट होती है। यह द्वैत व्यक्तित्व है, दोहरा व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का एक रूप है काम और दूसरा रूप है परिग्रह। जब काम का अस्तित्व रहता है तब अर्थ भी परिग्रह बन जाता है।

एक त्यागी मुनि कपड़े पहनता है, रोटी खाता है, मकान में रहता है। वह परिग्रह नहीं है। न कपड़ा परिग्रह है, न रोटी परिग्रह है और न मकान परिग्रह है। मुनि कभी-कभी राज-प्रासादों में रहते हैं। बड़े-बड़े धनवानों के विशाल मकानों में आवास करते हैं। यदि मकान परिग्रह बनता तो मुनि सबसे बड़े परिग्रही होते। उनके जितना बड़ा परिग्रही कोई नहीं होता, क्योंकि प्रतिदिन नए-नए मकानों में रहते हैं। वर्ष भर में कितने मकानों में रह जाते हैं! पर कही कोई परिग्रह नही छू पाता।

पूछा गया—साधक खाता है, पीता है और भी अनेक वस्तुएं रखता है, उनका उपभोग करता है, फिर भी परिग्रही नही, क्यों? आचार्य ने कहा—ममत्व या मूर्च्छा के जुड़े बिना पदार्थ परिग्रह नही बनता। ममत्व परिग्रह है, केवल पदार्थ परिग्रह नही है।

यह एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सचाई है—वस्तु परिग्रह नही है, परिग्रह है हमारे भीतर रहा हुआ काम। जब काम का परिष्कार हो जाता है, काम-शुद्धि हो जाती है तब वस्तु अपरिग्रह बन जाती है। जब तक काम अपरिष्कृत रहता है, तब तक वस्तु परिग्रही बनी रहती है। इसीलिए आचार्यों ने परिग्रह को दो भागों में बांटा—एक है भीतर का परिग्रह और दूसरा है बाहर का परिग्रह। सारी मानसिक ग्रंथियां भीतर के परिग्रह हैं। सोना, चांदी, लोहा, धन-धान्य आदि बाहर के परिग्रह हैं। बाहर का परिग्रह हमें नही बांधता। बांधता है भीतर का परिग्रह। काम भीतर का परिग्रह है। वह बांधता है।

काम और अर्थ जीवन यात्रा को चलाने के लिए हैं। काम के बिना जीवन की यात्रा नही चलती। जीवन की यात्रा तब तक चलती है, जब तक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

काम है। कामना तब तक पूरी नहीं होती है जब तक अर्थ नहीं होता। कामना की पूर्ति का एकमात्र साधन है अर्थ। जो आदमी केवल इन दो आयतनों में ही जीना चाहता है, वह आदमी शांति का जीवन नहीं जी सकता। वह व्यक्ति संतोष, स्थिरता और प्रसन्नता का जीवन नहीं जी सकता।

आज के लोग दो खेमों में बंटे हुए हैं। कुछ लोग केवल दो आयतनों—काम और अर्थ—में जीना चाहते हैं। वे धर्म को भी नकारते हैं और मुक्ति को भी नकारते हैं। कुछ लोग चार आयतनों में जीना चाहते हैं। जो केवल दो आयतनों में जीना चाहते हैं, वे मानवीय चेतना के साथ खिलवाड़ करते हैं। वे मनुष्य को केवल रोटी के आधार पर जिलाना चाहते हैं। क्या रोटी मन को शांति दे सकती है? जिन्हें प्रचुरता से रोटी उपलब्ध है उनका मन भी प्रचुर रूप में अशांत बना हुआ है। जिन्हें रोटी की प्रचुरता है, वे बड़ी से बड़ी अनैतिकता और बुराई करने में नहीं हिचकते। हम इस सचाई को स्वीकार करें—रोटी ही सब कुछ नहीं है। रोटी के अलावा भी बहुत अपेक्षाएं हैं हमारे जीवन की। उन अपेक्षाओं की पूर्ति धर्म और मोक्ष से हो सकती है। हमें जाने-अनजाने तीसरे आयतन—धर्म में प्रवेश करना ही होगा। वह धर्म जो प्रायोगिक है।

हम श्वासप्रेक्षा का प्रयोग करते हैं। श्वास को देखना प्रायोगिक धर्म है। एक धर्म होता है केवल उपासना का। वह इतना लाभप्रद नहीं होता। श्वास को देखने का अर्थ है धर्म की चेतना को जगाना। धर्म की चेतना केवल ज्ञान की चेतना है, केवल दर्शन की चेतना है। कोरा ज्ञान और कोरा दर्शन, कोई संवेदन नहीं। श्वास देखते समय न प्रियता का संवेदन होता है और न अप्रियता का संवेदन होता है। अधर्म है—प्रियता और अप्रियता का संवेदन। धर्म है—कोरा जानना, कोरा देखना, केवल ज्ञाता-द्रष्टा होना।

काम-परिष्कार का बहुत बड़ा आलम्बन है—श्वास प्रेक्षा। जैसे-जैसे श्वास के प्रति जागरूकता बढ़ती है, जैसे-जैसे ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव विकसित होता है, वैसे-वैसे काम का परिष्कार घटित होता जाता है, अर्थ की शुद्धि होती जाती है। काम और अर्थ के प्रति जो आसक्ति बनी हुई होती है, वह कम हो जाती है। परिष्कार की बात मूल की बात है, जड़ की बात है, बहुत बड़ा तथ्य है।

समस्या से मुक्ति पाने का तात्पर्य है—काम और अर्थ से मुक्ति पाना। एक ओर है काम और अर्थ। दूसरी ओर है काममुक्ति और अर्थ मुक्ति। इन दोनों के बीच में है—परिष्कार। दो ध्रुवों के बीच हम चलते हैं। यदि परिष्कार होता रहे तो एक प्रकार के नए जीवन का उदय होगा। यदि परिष्कार की बात छूट जाती है तो जीवन का प्रकार बदल जाता है। फिर व्यक्ति में आग्रह पनपता है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और वह यही कहता है—मुझे तो यही अपरिष्कृत जीवन ही जीना है। अपरिष्कृत अर्थ का भी आग्रह हो जाता है, व्यक्ति कहता है—मुझे तो इतना संचय करना ही है, फिर चाहे जैसे तैसे करूं।

एक अनपढ़ आदमी बनारस चला गया। पंडितों का नाम सुना था। वहां गया। कुछ दिन रहा। घर लौटा। मां ने पूछा—काशी में जाकर क्या किया तूने? उसने कहा—मां! मैंने वहां सब पंडितों को जीत लिया। अनेक पंडित आए मेरे पास। मैंने सबको हरा दिया। मां आश्चर्य में पड़ गई। उसने सोचा, यह पढ़ा-लिखा तो नहीं है। काशी में पंडितों की भरमार है। यह कहता है, मैंने सबको जीत लिया। मां ने पूछा—कैसे जीता तूने, सब पंडितों को? उसने कहा मां! मेरे पास जीतने की अनोखी कला है। उस कला को वे बेचारे पंडित जानते ही नहीं। इसलिए वे आते और हारकर चले जाते। मां की उत्सुकता बढ़ी। उसने पूछा—बेटे! क्या है वह अनोखी कला? वह बोला—मां! पंडित मेरे पास आता, बड़ी-बड़ी बातें करता। शास्त्रों की बातें करता। मैं मौन सुनता रहता। अन्त में मैं एक ही उत्तर देता—तुम झूठे हो, मैं सच्चा हूं। मेरे इस उत्तर से वह सकपका जाता। वह और कुछ कहता पर मैं तो एक ही उत्तर देता—तुम झूठे हो, मैं सच्चा हूं। इस कला से मैं सबको जीतता गया। मेरा उत्तर अमोघ बन गया।

संभव है—आज भी व्यक्ति में इतना आग्रह हो गया है। वह सोचता है, कुछ भी हो। समाज टूटे, परिवार टूटे, जाति टूटे, सब धरातल में चले जाएं, पर मेरे पास जीने की एक कला है, और उसका सूत्र है—'पैसा मेरा और सब अनेरा।'

जब अपरिष्कार का इतना आग्रह बन जाता है तब सारी उलझनें पैदा होती हैं। ध्यान और श्वासप्रेक्षा के द्वारा हम ऐसी चेतना का निर्माण करें, जिससे परिष्कार घटित हो जाए। काम का परिष्कार हो, अर्थ का परिष्कार हो और परिष्कार होता ही जाए। हम पहले अर्थ के परिष्कार के लिए प्रयत्न न करें। वह काम के परिष्कार से स्वयं होने वाला परिणाम है। जब काम सक्रिय होगा तो उसका परिणाम निष्क्रिय कैसे हो पाएगा? हम काम—कामना के परिष्कार के लिए सघन प्रयत्न करें। उसके घटित होने पर अर्थ-परिष्कार दुरूह नहीं होगा, स्वयं आयेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

काम परिष्कार का पहला सूत्र : मुक्ति दर्शन

'मनुष्य मुक्त हो सकता है''—यह दर्शन काम के परिष्कार का दर्शन है, मुक्ति का दर्शन है।

चिन्तन की दो धाराएं रही हैं। कुछ दार्शनिकों ने स्वीकार किया—मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है, मुक्त हो सकता है। दूसरी धारा के दार्शनिक इस मत से सहमत नहीं हुए। उन्होंने कहा—मनुष्य कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। जो सर्वज्ञ नहीं हो सकता, वह स्वयंभू परमात्मा नहीं बन सकता, वह किसी परमात्मा में विलीन हो सकता है।

जैन दर्शन ने इस सिद्धांत को स्वीकृति दी—मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। मीमांसक आदि दर्शनों ने इसमें आपत्ति प्रदर्शित की। उनका सिद्धांत था—मनुष्य में राग-द्वेष समाप्त नहीं होता। वह कितनी ही साधना करे, उसमें राग-द्वेष का विलय नहीं देखा जाता। बड़े से बड़े व्यक्ति में राग मिलता है, द्वेष मिलता है। धर्म के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों में भी राग-द्वेष प्राप्त होता है। प्रशासन के क्षेत्र में भी यही बात है। परिवार के सदस्य या अधिकारी भी इसके अपवाद नहीं हैं। इसलिए कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। सात धातुओं से निष्पन्न शरीरधारी मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त कैसे हो सकता है? राग और द्वेष से मुक्त परमात्मा हो सकता है, ईश्वर हो सकता और वही सर्वज्ञ हो सकता है। दूसरे लोगों में सामर्थ्य ही कहां है कि वे राग-द्वेष से मुक्त हो जाएं।

अकबर ने बीरबल से कहा—बीरबल! आज रात को मैंने अनोखा सपना देखा। बड़ा विचित्र सपना था। मैंने देखा—दो कुंड हैं। एक अमृत से भरा है और दूसरा कीचड़ से। हम दोनों जा रहे थे। मेरा पैर फिसला और मैं अमृत के कुंड में जा गिरा। तुम भी फिसले और कीचड़ में गिर पड़े।

बीरबल ने बादशाह की भावना जान ली। उसने तपाक से कहा—जहांपनाह! आपका सपना सही है। मैंने भी रात को सपना देखा था। अद्भुत सपना था और वह आपके सपने से कुछ लम्बा था। मैंने देखा, दो कुंड हैं पास-पास में। एक अमृत से भरा हुआ है और दूसरा कीचड़ से। आप अमृत के कुंड में गिर गए और मैं कीचड़ के कुंड में गिर गया। परन्तु जहांपनाह मेरा सपना आगे बढ़ा। हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ कर बाहर निकले। मैं कीचड़ से लथपथ था और आप अमृत से भरे थे। आपने मुझे चाटना प्रारम्भ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

किया और मैंने आपको चाटना प्रारम्भ किया। इतने में आंखें खुल गई।

ये राग-द्वेष की तरंगें इतनी विचित्र हैं कि बड़े से बड़ा आदमी भी इनमें उलझ जाता है।

यह दर्शन बहुत स्वाभाविक लगता है कि सात धातुओं के शरीर में रहने वाला मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त कैसे हो सकता है? जिसका सारा परिकर और परिसर राग-द्वेष से भरा हुआ है, जो प्रियता और अप्रियता की ऊर्मियों से खेल रहा है, वह आदमी वीतराग नहीं हो सकता, वीतद्वेष नहीं हो सकता और जो वीतराग और वीतद्वेष नहीं हो सकता, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, स्वयंभू परमात्मा नहीं बन सकता।

'मनुष्य सर्वज्ञ बन सकता है'—इसको स्वीकृति देने वाले दार्शनिकों ने कहा—मनुष्य में अनन्तशक्ति है, सामर्थ्य है। जितनी शक्ति परमात्मा और ईश्वर में है, उतनी ही शक्ति आत्मा में है। न केवल मनुष्य में किन्तु प्रत्येक परमाणु में अनन्त शक्ति है। जो पुद्गल है, जड़ है, चेतन नहीं है, वह भी शक्ति-संपन्नता की दृष्टि से अनन्त शक्ति संपन्न है। बहुत अद्भुत सिद्धांत लगता है, पर है यथार्थ। यदि परमाणु में अनन्त शक्ति न हो तो परमाणु का अस्तित्व अनन्त काल तक नहीं रह सकता। जो भी पदार्थ, चाहे चेतन हो या अचेतन, अनन्त काल तक अपना अस्तित्व बनाए रखता है तो वह अपनी अनन्त शक्ति के आधार पर ही ऐसा कर सकता है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। किन्तु उसके पास एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने अस्तित्व को बराबर बनाए हुए है। उस शक्ति का दार्शनिक शब्दावली में नाम है 'अगुरुलघुपर्याय'। 'अगुरुलघु' एक ऐसा पर्याय है, जो न गुरु होता है और न लघु। इसी के आधार पर वस्तु अपने अस्तित्व को बनाए रखती है। यह स्वभाव पर्याय हैं। इसी के सहारे वह अपने स्वभाव को बनाए रख रहा है और प्रत्येक नए क्षण में अपने अस्तित्व को ढालने में समर्थ हो रहा है। वह उस क्षण के अनुरूप अपने अस्तित्व को बना लेता है और उसको कायम रख लेता है। यह शक्ति प्रत्येक आत्मा और परमाणु में है। चेतन और अचेतन में शक्ति का अन्तर नहीं है। दोनों में अनन्त शक्ति है। अन्तर केवल चेतना का है। एक में चेतना है, दूसरे में नहीं है। यह भेदरेखा चेतना के आधार पर खींची गई है, शक्ति के आधार पर नहीं। मनुष्य चेतन और अचेतन—दोनों का योग है। उसका शरीर अचेतन है। उसकी आत्मा चेतन है। अचेतन और चेतन का योग मिला और एक प्राणी बन गया। प्रत्येक प्राणी दोनों का योग होता है। शुद्ध आत्मा प्राणी नहीं होता। अचेतन भी प्राणी नहीं होती। चेतन और अचेतन का योग होता है और प्राणी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की निष्पत्ति हो जाती है। हम सब प्राणी हैं। हम प्राणों के सहारे जी रहे हैं, प्राणशक्ति के आधार पर जी रहे हैं, ऊर्जा के आधार पर जी रहे हैं, हमारी शक्ति प्राण के माध्यम से प्रकट हो रही है, प्राण के रूप में प्रकट हो रही है। एक प्रकार के प्राण का एक आकार बनता है, संस्थान बनता है और हम उस संस्थान में जीते हैं। हमारी शक्ति की अभिव्यक्ति प्राण के रूप में होती है।

प्राण अनेक हैं—इन्द्रियप्राण, मनप्राण, वचनप्राण, शरीरप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण, आयुष्यप्राण। ये सारी शक्तियां हमारी अभिव्यक्तियां हैं। एक महास्रोत से ये सारी अभिव्यक्तियां हो रही हैं। प्राण चेतन भी नहीं है और अचेतन भी नहीं है। प्राण चेतन और अचेतन से बना हुआ तीसरा तत्त्व है। दोनों का मिश्रण है।

हमारे शरीर की शक्ति भी असीम है। उसकी हमें जानकारी नहीं है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में, अनेक लोगों ने शरीर को समझने का प्रयत्न किया है और उसे समझा है। इससे पूर्व हमारे आस-पास में भी शरीर के विषय में यही धारणा थी कि शरीर अपवित्र है, अशुचिबहुल है, नश्वर है, एक दिन नष्ट होने वाला है। वैराग्य के संवर्धन के लिए ये आलम्बन निर्मित किए गए। इसी के आधार पर 'अनुप्रेक्षा' का विकास किया गया, जिसे 'अशुचि-अनुप्रेक्षा' कहा जाता है।

बारह अनुप्रेक्षाओं में एक अनुप्रेक्षा है—अशौच अनुप्रेक्षा। इसका अर्थ है—शरीर की अशुचित्ता के नियम से चिंतन करना, अनुप्रेक्षण करना। बात गलत नहीं है। शरीर का जो वर्णन प्राप्त होता है, उस शरीर में विरक्ति घटित करने के लिए जो बतलाया गया, वह गलत न होने पर भी पूरा सही नहीं है। वह मात्र एक कोण से सही है।

शरीर को देखने का दूसरा कोण भी है। शक्ति, चेतना और आनन्द की सारी अभिव्यक्तियां इसी शरीर के माध्यम से होती हैं। शरीर में इतने केन्द्र हैं, इतने 'स्विच बोर्ड' हैं, इतने स्रोत हैं जिनका विकास करने पर आनन्द का अवतरण होता है, शक्ति का स्रोत फूटता है, चेतना की रश्मियां प्रस्फुटित होती हैं। आवरण के हटने पर भीतर की संपदा अभिव्यक्त हो जाती है, पर उसका माध्यम यह शरीर ही बनेगा। शरीर के रहस्यों को जाने बिना, शक्ति स्रोतों का ज्ञान किए बिना हम ऐसा कर नहीं सकते।

जिन लोगों ने शरीर का गहराई से अध्ययन किया है, वे बहुत आगे बढ़े हैं, चिकित्सा के क्षेत्र में, साधना के क्षेत्र में। चिकित्सा की दो पद्धतियां—एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेजर—प्राणशक्ति के आधार पर, शरीर के आधार पर चल रही है। हमारे पूरे शरीर में प्राण की धारा प्रवाहित हो रही है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इसे हम ऊर्जा की धारा कहें, वायोइलेक्ट्रीसिटी की धारा कहें या जैविक विद्युत कहें। यदि शरीर का सूक्ष्म फोटो लिया जाए तो पता चलेगा—जैसे पूरा शरीर कुछ रश्मियों से बंधा हुआ है। ये ऐसी रश्मियां हैं, जो पैर से लेकर सिर तक सीधी चली गई हैं। ये सारी प्राण की धाराएं हैं।

सामान्यतः हम समझते हैं कि हमारी सारा प्रवृत्ति-चक्र रक्त के आधार पर चल रहा है, मांसपेशियों के आधार पर चल रहा है या हड्डियां स्वस्थ हैं, मांसपेशियां ठीक काम कर रही हैं, रक्त का संचार सुचारु रूप से हो रहा है, पर यदि प्राण की धारा सूख गई है तो सब कुछ बंद हो जाएगा। हड्डियां काम करना बंद कर देंगी, मांसपेशियां सिकुड़ने लग जायेंगी और रक्त का संचार भी रुक जाएगा। इनकी क्रिया का मूल स्रोत है—प्राण। प्राण के द्वारा सब संचालित हो रहे हैं। प्राण शक्ति जैसे-जैसे कम होती जाती है, शरीर की सारी शक्तियां कम होती हैं। प्राण शक्ति प्रबल होती है तो शरीर की सारी शक्तियां बनी रहती हैं। आधारभूत शक्ति है प्राण का।

'एक्यूप्रेजर' की पद्धति में यही किया जाता है। शरीर के अमुक-अमुक केन्द्र को दबाकर प्राण को अजस्र प्रवाहित किया जाता है। कहां से दबाना है, कैसे दबाना है? ये सारी बातें इस पद्धति में निष्णात व्यक्ति जानते हैं। इस शरीर में सारे रहस्य भरे पड़े हैं। इसमें सैकड़ों-सैकड़ों केन्द्र और आयतन हैं, विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन केन्द्रों का विकास कर प्राण शक्ति को विकसित कर सकता है, शक्ति और आनन्द का विकास कर सकता है, अनेक अनबुझी पहेलियों को सुलझा सकता है।

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर को समझने पर बहुत बल दिया गया है। जो व्यक्ति शरीर के रहस्यों को नहीं जानता, वह धर्म को भी ठीक से नहीं जान पाता। जो व्यक्ति शरीर की ठीक से व्याख्या नहीं कर सकता, वह धर्म की सम्यक व्याख्या नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना है, जिसको अपनी शक्ति और चेतना का विकास करना है, उसे शरीर के रहस्यों को जानना ही होगा।

जब व्यक्ति शरीर की शक्ति से परिचित हो जाता है तब आत्मा की शक्ति में कोई संदेह नहीं रहता। हमारे शरीर में ऐसे केन्द्र हैं, जिनसे काम और वासना बढ़ती है, राग और द्वेष बढ़ता है। दूसरी ओर शरीर में ऐसे केन्द्र भी हैं, जिनका विकास करने पर कामना और वासना घटती है, कामना और वासना का परिष्कार होता है, राग और द्वेष का विलय होता है। अभ्यास करते-करते, शरीर के केन्द्रों का परिष्कार करते-करते, उनका उपयोग करते-करते एक बिन्दु

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ऐसा आता है कि चेतना का ऊर्ध्वारोहण, ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन हो जाता है, सारी चेतना और ऊर्जा हमारे मस्तिष्क के दाएं भाग में आ जाती है। मस्तिष्क का दायां भाग अध्यात्म का भाग है, बायां भाग लौकिक शिक्षा का भाग है, गणित, तर्कशास्त्र आदि-आदि शिक्षाओं का केन्द्र है। मस्तिष्क का पिछला भाग 'अनुमस्तिष्क' अध्यात्म का भाग है और इससे जुड़ा है 'सुषुम्नाशीर्ष'। यह सारा अलौकिक भाग है।

शरीर में दो हिस्से हैं। एक है लौकिकता का हिस्सा और दूसरा है अलौकिकता का हिस्सा। अलौकिकता का हिस्सा सोया का सोया रहता है इसलिए विश्वास नहीं होता कि मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है, वीतराग हो सकता है, सर्वज्ञ हो सकता है। आज के वैज्ञानिक खोजों ने मानव जाति पर बहुत बड़ा उपकार किया है और यह संभावना व्यक्त की है कि यदि आदमी मस्तिष्क को विकसित करे तो सर्वज्ञ बन सकता है, त्रिकालदर्शी बन सकता है। वह अतीत को जान सकता है, भविष्य को जान सकता है, दूर को जान सकता है, व्यवहित और सूक्ष्म को जान सकता है। जब केन्द्रीय-नाड़ी-संस्थान, सुषुम्नाशीर्ष, अनुमस्तिष्क और मस्तिष्क का दायां भाग सक्रिय हो जाता है तब सर्वज्ञ होने की, राग-द्वेष से मुक्त होने की तथा त्रिकालदर्शी बनने की संभावना बन जाती है।

विकास का सबसे बड़ा सूत्र है—संभावना की स्वीकृति। विकास की सबसे बड़ी बाधा है—संभावना को नकारना। संभावनाओं को नकारना अपने आपको पहले से ही रस्सों से बांध देना है। फिर आगे गति कैसे हो सकती है? संभावना की अस्वीकृति सबसे बड़ा विघ्न है साधना का। यदि साधक मान ले कि मन को टिकाना संभव नहीं है, मन की चंचलता को मिटाना संभव नहीं है, यह करना संभव नहीं है, वह करना संभव नहीं है तो वह सारी संभावनाओं के द्वार को बंद नहीं करता, उस पर मजबूत ताला लगा कर चाबियों को खो देता है।

हम साधना के क्षेत्र में संभावनाओं को स्वीकार कर चलें कि आदमी सर्वज्ञ और वीतराग हो सकता है। वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। संभावना के आधार पर ही दिशा का निर्धारण होता है। जब संभावनाएं मन से दृढ़ हो जाती हैं तब उसी ओर प्रस्थान होने लगता है। संभावना के आधार पर ही हमारा प्रस्थान वीतरागता की दिशा में होगा, सर्वज्ञता की दिशा में होगा और मुक्ति की दिशा में होगा।

एक भाई ने पूछा—श्वास-दर्शन कामना के परिष्कार का सिद्धांत कैसे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बन सकता है? क्या सम्बन्ध है श्वास का और कामना का? मैंने कहा—सीधा संबंध है दोनों का। जब हम श्वास को देखते हैं उस क्षण में श्वास के प्रति न राग होता है और न द्वेष होता है। श्वास को देखने का अर्थ है राग-द्वेषमुक्त क्षण में जीना, समभाव में जीना। हम जितने क्षण राग-द्वेषमुक्त जीते हैं, उतना ही कामना का परिष्कार होता जाता है। कामना राग को पैदा करती है। कामना द्वेष को पैदा करती है। जब हम राग और द्वेष से मुक्त होकर जीते हैं तब कामना को बल नहीं मिलता, ईंधन नहीं मिलता, अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिलता। तब कामना के दोष अपने आप में घुलते चले जाते हैं। चेतना की शक्ति का क्षण सारी अशुद्धियों को समाप्त करने का क्षण है। जो धातु-परिष्कार या धातु-शोधन की प्रक्रिया को जानते हैं वे इस सचाई से अनभिज्ञ नहीं हैं।

धातु-शोधन की वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार शुद्ध धातु का डंडा ऊपर घूमता है और उसके नीचे जो विजातीय तत्त्वों से मिश्रित धातु पड़ा है, उसमें से विजातीय कण छन-छनकर निकल जाते हैं। उसे छूने की भी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार शुद्ध चेतना का डंडा जब घूमता है तब अशुद्धि के सारे कण छनते चले जाते हैं, चित्त निर्मल तथा पवित्र होता चला जाता है।

श्वास-दर्शन का क्षण वीतरागता का क्षण है। यह क्षण जितना लंबा होता है उतनी ही आंतरिक शुद्धि होती जाती है।

मुक्ति का सिद्धांत काम परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। मुक्ति हमारा अन्तिम आदर्श है। इसको हमने सामने रखा है। इस अन्तिम में जो बात निकलेगी, वह काम के परिष्कार की बात होगी। कोई व्यक्ति चाहे ध्यान करे या न करे, किन्तु वह प्रत्येक कार्य के साथ मुक्ति की स्मृति बनाए रखे। कोई भी काम करे तो यह सोचे—मुक्ति तक पहुंचना है। ऐसा करने वाला साधना के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ जाता है। साधना का कोई एक ही मार्ग नहीं होता। 'विभिन्नाः पन्थानः'—अनेक मार्ग हैं। अनेक मार्गों में यह भी एक मार्ग है कि खाए तो मुक्ति का दर्शन, पीये तो मुक्ति का दर्शन, सोए तो मुक्ति का दर्शन, चले तो मुक्ति का दर्शन। मुक्ति, मुक्ति और मुक्ति। मुक्ति की इतनी तन्मयता और लयबद्धता आ जाए तो अन्यान्य परिणाम स्वतः आ जाते हैं। इससे चैतन्य केन्द्रों का विकास भी हो जाएगा, वीतरागता भी उतर आएगी और सर्वज्ञता की भी उपलब्धि संभव हो जाएगी।

मुक्ति के लक्ष्य में अन्यान्य लक्ष्य समा जाते हैं। इस साधना से काम से अकाम की स्थिति निर्मित हो जाती है। कोई व्यक्ति अगर इस भूमिका का अभ्यास करता है और यह निश्चय कर लेता है कि अन्तर् और बाह्य—दोनों

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दृष्टियों के समक्ष मुक्ति के दर्शन को रखेगा, वह मुक्ति के निकट पहुंच सकता है। जब अन्तर्लक्ष्य बन जाता है मुक्ति, तब उसका निरन्तर दर्शन होता रहता है। आंख खुली हो या बंद, वह कभी ओझल नहीं होता। किन्तु जब तक यह लक्ष्य आंतरिक नही होता तब तक श्वास-प्रेक्षा आदि प्रक्रियाओं से गुजरना होता है। अन्तर्लक्ष्य वाली बात सरल लगती है, पर उसका बनना कठिन है। मार्गगत अनेक बाधाएं हैं। राग की तरंग आ जाती है और लक्ष्य भुला दिया जाता है। आदमी वैसा का वैसा। उस भाव को पुष्ट करने के लिए अनेक आलंबनों को लेना होता है। आलम्बन मन को प्रशिक्षित करने के प्रयत्न हैं। अभ्यास और प्रशिक्षण के बिना अन्तर्लक्ष्य बनता नहीं। अन्तर्लक्ष्य बनाने के लिए हमें व्यवस्थित प्रशिक्षण से गुजरना होगा, अभ्यास करना होगा। शरीर को प्रशिक्षित करने से वह भी अद्भुत काम करने लग जाता है। आदमी कानों को नहीं हिला सकता। अन्यान्य अनेक अवयवों को आदमी अपनी इच्छा से हिला सकता है पर कान और केश आदमी को इच्छा से नहीं हिला सकता। यदि प्रशिक्षण दें तो कान भी हिल सकते हैं। असंभव लगने वाले कार्य भी प्रशिक्षण के द्वारा संभव बन जाते हैं। प्रशिक्षित पशु भी विचित्र कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं। आदमी तो बुद्धिमान प्राणी है। उसका शरीर सधा हुआ है। वह प्रशिक्षण के द्वारा और भी अद्भुत कार्य कर सकता है। पेट की मांसपेशियों को प्रशिक्षित करने पर पाचन की क्षमता बढ़ जाती है। आंतों को प्रशिक्षण देने पर कोष्ठबद्धता समाप्त हो जाती है। हमारे शरीर के ज्ञानतन्तु बहुत ग्रहणशील हैं। यदि उन्हें दुलारें, प्यार करें, सहलाएं, प्रेम से आदेश दें तो वे सब आदेशों को स्वीकार कर लेंगे। आवश्यकता है निरंतर अभ्यास और प्रशिक्षण की।

एक भाई ने बताया—मैं जब प्रेक्षा-ध्यान में बैठता हूं तो मेरे सामने रंग आने लग जाते हैं। मैंने लेश्या के बारे में पढ़ा था। मैंने प्रयोग प्रारम्भ किए। अभ्यास बढ़ा। रंगों का साक्षात्कार होने लगा। मेरा स्वभाव बदल गया, चिड़चिड़पन मिट गया, उत्तेजना कम हो गई और आज मैं बहुत शांति का अनुभव कर रहा हूं। यह सारी निष्पत्ति मेरे निरन्तर अभ्यास से हुई है।

जो अभ्यास करते हैं, वे धीरे-धीरे उस क्रिया को साध लेते हैं। जो अभ्यास ही नही करते, केवल बातें बनाते हैं, वे कुछ भी नहीं कर पाते। प्रशिक्षण के द्वारा शरीर की स्थिति को बदला जा सकता है। प्रशिक्षण के द्वारा मन की अवस्था को, भावधारा को बदला जा सकता है। यह सारा अभ्यास और प्रशिक्षण पर निर्भर है। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ेगा, जैसे-जैसे ज्ञानतन्तु प्रशिक्षित होंगे, वैसे-वैसे हमें नई शक्तियां उपलब्ध होंगी, नई चेतना का साक्षात्कार होगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

काम-परिष्कार का दूसरा सूत्र : परिणाम दर्शन

जीवन का उद्देश्य क्या है—यह प्रश्न एक बार नहीं, अनेक बार पूछा जाता रहा है। इसका उत्तर देना सरल नहीं है, बहुत कठिन है। प्रत्येक आदमी अपना-अपना उद्देश्य बनाए बैठा है। किसी व्यक्ति का उद्देश्य है—करोड़पति बनना। किसी का उद्देश्य है मंत्री बनना और किसी का उद्देश्य है अधिकारी बनना, धर्माचार्य बनना—भिन्न-भिन्न उद्देश्य हैं। जितने व्यक्ति, उतने उद्देश्य।

जीवन का अमुक उद्देश्य है, ऐसा कहना समस्या में उलझना है, क्योंकि हमारा उद्देश्य उधार लिया हुआ है। अपना स्वयं का उद्देश्य कोई नहीं लगता। सारे उद्देश्य उधार लिए हुये उद्देश्य हैं। उधार उधार होता है। मांगने पर लौटना होता है।

एक व्यक्ति ने कहा—'अरे, भले आदमी! मेरा छाता लौटाओ।' उसने कहा—'इतनी क्या जल्दी है? अभी तो मांगकर लाया हूं।' वह बोला—मेरा मित्र मांग रहा है, जिससे मैं छाता मांगकर लाया था और उससे वह तीसरा व्यक्ति मांग रहा है, जिससे वह मांगकर लाया था।

सारा उधार ही उधार। वह उसे मांगकर लाया है, वह दूसरे से और वह तीसरे से। जो मांगकर लाया गया है, उधार लिया गया है, उसे तो लौटाना ही होगा। हमने भी शायद उद्देश्यों को उधार ले रखा है। हमारा कोई वास्तविक उद्देश्य नहीं है।

उद्देश्य बुद्धि के द्वारा निर्धारित होता है। बुद्धि जिस दिशा में प्रस्थित होती है, उद्देश्य उसी दिशा में बन जाता है। वास्तविक उद्देश्य अपने आप वहां प्रगट होता है जहां बुद्धि काम नहीं देती, जहां बुद्धि की सीमा समाप्त हो जाती है। हमारे जीवन में बुद्धि ही सब कुछ नहीं है। वह सर्वस्व नहीं है। वह ससीम है, असीम नहीं है। आदमी बुद्धि को असीम मान बैठा है। पर वह असीम कैसे हो सकती है? इन्द्रियों और मन की चेतना असीम नहीं है तो फिर बुद्धि की चेतना असीम कैसे हो सकती है? वह सीमित है किंतु उसके आगे के सारे द्वार बन्द हैं, इसलिए हमने उसे असीम मान लिया है। यह केवल मानी हुई बात है, यथार्थ नहीं है। जब हम बुद्धि की सीमा का उल्लंघन कर आगे बढ़ते हैं तब ज्ञात होता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है? वह उद्देश्य हमारे भीतर छिपा बैठा है। उस पर आवरण आए हुए हैं। आग भीतर जल रही है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ऊपर राख का ढेर इतना आ गया है कि भीतर की ज्योति का पता ही नहीं चलता। भीतर में ज्योति बुझी नहीं है। वह बुझती भी नहीं है। एक बार जो ज्योति जल जाती है, वह अखंड ज्योति बन जाती है। यदि वह भी बुझ जाए तो राख का साम्राज्य हो जाए। फिर अंधकार से उबारने में भगवान भी समर्थ नहीं हो सकता। हर आदमी इसीलिये बचा हुआ है कि उसके भीतर अज्ञात ज्योति जल रही है, अखंड ज्योति जल रही है। उसके भीतर ऐसी प्रकाश की उर्मि उठ रही है कि वह आंख मूंदकर चलने वाले आदमी को जगा देती है। वह ज्योति हमारी चेतना का अस्तित्व है, चेतना का परिणमन है। इसे दार्शनिक भाषा में 'पारिणामिक भाव' कहा गया है। प्रतिक्षण चेतना का परिणमन हो रहा है इसलिए वह ज्योति कभी नहीं बुझती। कर्म का आवरण कितना ही सघन क्यों न हो, वह उस ज्योति को ढंक सकता है, बुझा नहीं सकता।

मुख्य आवरण चार हैं—ज्ञान का आवरण, दर्शन का आवरण, मोह का आवरण और शक्ति का आवरण। ये कितने ही गहरे क्यों न हों, पर वह ज्योति बुझती नहीं। आकाश में कितने ही बादल क्यों न छा जाएं, घनघोर घटा क्यों न उमड़ पड़े, सूरज को ढंक लें, पर दिन और रात का विभाग बना रहता है। दिन कभी रात नहीं बनता। घनघोर अन्धकार हो जाने पर भी यह प्रतीत बनी रहती है कि अभी रात नहीं है, दिन है। दिन और रात की भेदरेखा स्पष्ट रूप से हमारे सामने रहती है। इसी प्रकार ज्योति और अन्धकार की भेदरेखा भी स्पष्ट बनी रहती है। हमारा अस्तित्व निरन्तर गतिशील है, चलमान है। वह परिवर्तनशील एवं स्वयं प्रकाशी है। जब हम ज्योति के क्षण में जीते हैं, उस ज्योति के प्रदेश में हमारा प्रवेश होता है, तब उद्देश्य स्वयं प्रगट होता है और वह उद्देश्य है अस्तित्व की मुक्ति, अस्तित्व की स्वतन्त्रता, विजातीय से मुक्ति। विजातीय से मुक्त हो जाना, हमारा स्वयंभूत उद्देश्य है। इस प्रकार हमारा अंतिम और मौलिक उद्देश्य है—मुक्ति, केवल चैतन्य में रमण, केवल चैतन्य में रमण।

मुक्ति कोई विलक्षण पदार्थ नहीं है। मुक्ति कोई विशेष स्थान की प्राप्ति नहीं है। मुक्ति कोई पारलौकिक बात नहीं है। मुक्ति है केवल चैतन्य का अनुभव। मुक्ति है केवल शुद्ध अस्तित्व का अनुभव। जहां शुद्ध चेतना का अनुभव होता है, कषाय की सारी कलुषता छूट जाती है तब मुक्ति का सहज अनुभव प्रगट होता है।

जल की विशुद्ध धारा बहती है। उसमें गन्दे पानी की नालियां आकर मिल जाती हैं। उस धारा का पानी गन्दला-सा लगने लग जाता है। पानी कब गन्दला होता है? पानी का काम है गन्दगी को मिटाना। उसका काम है दूसरों

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

को निर्मल कर देना। दूसरों को निर्मल करने वाला पानी गंदा कैसे हो सकता है? किंतु गन्दगी बाहर से आकर उसमें मिलती है और वह गन्दा हो जाता है। पानी तरल होता है उसकी तरलता सबको मिला देती है। तब गन्दला जैसा बन जाता है पानी। किन्तु उसकी मूल प्रकृति है—निर्मलता। उस प्रकृति को नहीं मिटाया जा सकता। गन्दगी को अलग किया और पानी वैसा ही निर्मल। आगन्तुक गन्दगी को मिटाया जा सकता है, उससे मुक्ति हो सकती है।

चेतना की मूल धारा विशुद्ध है। उसके साथ गन्दगी मिल गई, वह गन्दी हो गई, विकृत हो गई। गन्दगी हटी और पुनः निर्मल बन गई। चेतना की निर्मलता सामने आ जाती है। चेतनाओं को निर्मल करना ही हमारा उद्देश्य है।

प्रश्न है—मुक्ति कैसे संभव है? मनुष्य कितने बन्धनों का जीवन जी रहा है! पदार्थों के बिना आदमी जी नहीं सकता। वह जीवन की अनिवार्यता है। पदार्थ की प्रकृति है बांधना, मूर्च्छा पैदा करना। इस स्थिति में मुक्ति की बात कैसे हो सकती है? पदार्थ के बिना जिया नहीं जा सकता और पदार्थ के साथ रहकर मूर्च्छा को समाप्त नहीं किया जा सकता। इस स्थिति का निवारण कैसे हो? अध्यात्म के आचार्य ने एक उपाय खोजा। उन्होंने कहा—तुम्हारी मुक्ति हो सकती है। यदि तुम केवल बाहर से मुक्त होना चाहोगे तो बात कठिन होगी। तुम पदार्थों के साथ रहो, पदार्थों का उपयोग करो किन्तु भीतर में मुक्त होना शुरू करो। तुम्हारी मुक्ति अवश्य ही घटित होगी। यह प्रक्रिया साधना की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। एक साधु भी पदार्थ से सर्वथा मुक्त होकर नहीं जी सकता तो गृहस्थी में रहने वाला पदार्थ-मुक्त होकर कैसे जी सकता है? यह शरीर भी तो एक पदार्थ ही है, परमाणुओं का पिण्ड है। कपड़े भी पदार्थ ही हैं। श्वास भी एक पदार्थ है, पौद्गलिक है। रोटी खाना, पानी पीना, धूप लेना, सर्दी, गर्मी, मकान—ये सारी जीवन की आवश्यकताएं, अनिवार्यताएं हैं। ये सब पदार्थ हैं, पुद्गल हैं, विजातीय हैं। साधु भी इनसे मुक्त नहीं हो सकता, तो गृहस्थ की बात ही क्या? यदि भीतर से मुक्त होने की प्रक्रिया नहीं है तो बाहर से मुक्ति की प्रक्रिया चलने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती। कुछ व्यक्ति बाहर से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं पर भीतर में बंधे के बंधे रह जाते हैं। इस अवस्था में सम्राट भरत का चरित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उनका चरित्र बड़ा विलक्षण है। वह जीवन की नई दृष्टि, नई कल्पना देता है।

एक बार भगवान ऋषभ अयोध्या के परिसर में पधारे। भरत वंदना के लिए गया। उसका पूरा परिकर भी साथ था। वंदना कर सब परिषद में बैठ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गए। भगवान ने प्रवचन किया। अन्त में भरत ने पूछा—'भगवन! क्या आपकी इस परिषद में ऐसा भी कोई प्राणी है, जो भविष्य में तीर्थंकर होगा? भगवान ने कहा—'हां, है।' भरत ने पूछा—'कौन है भन्ते?' भगवान बोले—तुम्हारा पुत्र मरीचि कुमार तीर्थंकर होगा। मरीचि कुमार ने यह सुना, उसका गर्व उभर आया। भरत को भी हर्ष हुआ।

भरत ने दूसरा प्रश्न पूछा—'भन्ते! क्या मैं मुक्त होऊंगा?' भगवान बोले—'तुम बंधे हुए कहां हो? इसी जन्म में तुम मुक्त हो जाओगे।'

सारी परिषद ने यह सुना। कुछ लोग बोले—हमारे सम्राट मुक्त हो जायेंगे। बड़ी अच्छी खबर है। कुछ लोगों ने विपरीत रूप से सोचा। चिंतन का प्रकार सबका एक नहीं हो सकता। एक व्यक्ति बोल पड़ा—'महान आश्चर्य! भगवान केवलज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं फिर भी पक्षपात से मुक्त नहीं हैं। भरत चक्रवर्ती हैं। वे इतने बड़े साम्राज्य के उपभोक्ता हैं। उनका इतना बड़ा परिवार है! उनके बड़े अधिकार हैं। कितनी हिंसा और परिग्रह का चक्र चल रहा है। फिर भी भगवान कहते हैं—तुम इसी जन्म में मुक्त हो जाओगे। भगवान को सोचना चाहिए था, पर भगवान भी तो भरत के ही पिता हैं।'

लोगों ने उसकी हां में हां मिला दी। बात समाप्त हो गई।

भरत अपने साम्राज्य का संचालन पूर्ववत करने लगे। एक दिन नगर कोट्वाल ने एक चोर को पकड़, भरत के समक्ष उपस्थित किया। उसने कहा—'राजन! इसने चोरी की है। इसे दंड दिया जाए।' चोर डर गया। उसने कहा—'महाराज! इस बार मुझे छोड़ दिया जाये। आगे से मैं कभी चोरी नहीं करूंगा।' भरत ने कहा—चोर तो अब मर गया। इस बेचारे को मारने से प्रयोजन ही क्या है? छोड़ दो इसे।

चोर थोड़े दिनों बाद फिर चोरी करते हुए पकड़ा गया। पुनः उसे सम्राट भरत के समक्ष उपस्थित किया गया। भरत बोले—'अरे, तुम तो वही हो! फिर चोरी की है तुमने!' चोर बोला—'आदत की लाचारी है।' भरत ने सोचा—चोर अभी तक मरा नहीं है। भीतर में वह जीवित है। जब भीतर का चोर नहीं मरता, तब बाहर के चोर को मारना ही श्रेयस्कर है। भरत ने आदेश दिया—'इसे मौत के घाट उतार दिया जाए।'

सारे नगर में इस मृत्यु-दंड की चर्चा प्रारम्भ हो गई। लोग कहने लगे—सम्राट भरत ने चोर को मृत्यु-दंड दिया है। उस व्यक्ति ने भी सुना जिसने भगवान पर पक्षपात का आरोप लगाया था। उसे अपनी बात की पुष्टि करने का अच्छा अवसर मिल गया। उसने कहना प्रारम्भ किया—देखो, जो व्यक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दूसरों को मृत्यु-दंड देता है, क्या वह मोक्ष पा सकता है? भगवान ने पक्षपात किया है।

यह बात सम्राट भरत तक पहुंची। उन्होंने सोचा—घर-घर यह चर्चा चल रही है। सारा वातावरण विषाक्त हो रहा है। उन्होंने उस आदमी को बुला भेजा। उसे पूछा—'तुमने यह चर्चा की? भगवान पर पक्षपात का आरोप लगाया?' वह यह सब सुनकर कांप उठा। अस्वीकार भी कैसे करे? उसने सब कुछ स्वीकार कर लिया। भरत ने कहा—इसे शूली पर चढ़ा दो। इसने जघन्य अपराध किया है भगवान पर दोषारोपण कर।

शूली की सजा सुनते ही वह कांप उठा। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—'महाराज! अब मैं ऐसा कभी नहीं करूंगा। इस बार क्षमा करें। मैंने बिना सोचे-समझे ऐसा कह दिया था। अब आप क्षमा करें, मुझे जीवन-दान दें।'

भरत ने कहा—'एक शर्त पर मैं तुझे मुक्त कर सकता हूं। वह शर्त यह है कि तुम अपने हाथ में तेल से भरे कटोरे को लेकर पूरी अयोध्या नगरी में घूम आओ। पर ध्यान रहे, तेल की एक बूंद भी नीचे न गिरने पाए। जहां बूंद नीचे गिरी, वहीं तुम्हारा सिर काट दिया जाएगा।' शर्त बहुत कठोर थी। पर मरता क्या नहीं करता। उसने शर्त स्वीकार कर ली।

तेल का भरा कटोरा हाथ में ले उसने अयोध्या की मरण-यात्रा प्रारम्भ की। सारे नगर की परिक्रमा कर वह सम्राट के पास पहुंचा।

भरत ने पूछा—'कहीं तेल की बूंद गिरी तो नहीं?'

'गिरती तो यहां कैसे पहुंचता? आपके सिपाही वहीं मेरा काम-तमाम कर डालते।'

'अच्छा, यह तो बताओ, तुमने अयोध्या के बाजारों में क्या देखा?'

'महाराज! मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।'

'अरे, स्थान-स्थान पर नाटक हो रहे थे, नाच-गाने हो रहे थे, बाजे बज रहे थे। क्या तुमने कुछ भी नहीं देखा? कुछ भी नहीं सुना?'

'महाराज! कुछ भी नहीं देखा, कुछ भी नहीं सुना।'

'क्या तुम बाजारों से नहीं गुजरे?'

'महाराज! वहीं से तो घूमघाम कर आया हूं।'

'फिर तुम्हें राग-रंग का पता कैसे नहीं चला?'

'महाराज! मेरा सारा ध्यान कटोरे पर था। उसमें मुझे मौत दिख रही थी। एक मौत नहीं, हजारों मौतें। प्रत्येक बूंद मौत का पैगाम लिए हुए थी। मैं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पूर्ण जागरूक था। कटोरा और जीवन—दो ही दीख रहे थे। दोनों की युति थी। कटोरा गिरा कि जीवन गिरा। कटोरा बचा कि जीवन बचा। जीवन का और कटोरे का एक अर्थ हो रहा था। मेरी सारी दृष्टि, मेरी समूची चेतना, मेरी सारी प्राणशक्ति इस कटोरे पर टिकी हुई थी। मुझे नहीं पता कि कहां क्या हो रहा था।'

देखो, जैसे तुम्हारी दृष्टि केवल कटोरे पर थी, वैसे ही मेरी दृष्टि मुक्ति पर है। जैसे तुमने कुछ नहीं देखा वैसे ही मैं केवल मुक्ति के सिवाय कुछ नहीं देख पा रहा हूं। निरन्तर और सर्वत्र मुक्ति ही मुक्ति नजर आती है। राज्य भी चल रहा है, दण्ड भी दिए जा रहे हैं, पदार्थ भी भोगा जा रहा है। सब कुछ हो रहा है। हिंसा भी हो रही है, परिग्रह भी हो रहा है, पर मुझे चौबीसों घंटे, दिन रात, उठते-बैठते, सोते-जागते, केवल मुक्ति ही दिखाई देती है। निरन्तर ऐसा अनुभव है—मुक्ति बचती है तो मैं बचता हूं और मुक्ति गिरती है तो मैं गिरता हूं। तूने एक मृत्यु से बचने के लिए, वर्तमान जन्म की मृत्यु से बचने के लिए इतना ध्यान केन्द्रित किया है। किंतु मैं अनन्त मृत्यु के चक्र से बचने के लिये, सारे बन्धनों से मुक्त होने के लिए मुक्ति पर ध्यान केन्द्रित कर बैठा हूं। मैं अपना काम कर रहा हूं, पदार्थ अपना काम कर रहे हैं। दुनिया चल रही है। कहीं नाच-गाना हो रहा है। कहीं भोजन बन रहा है। कहीं खाया जा रहा है, कहीं भोगा जा रहा है, पर इन सबसे मुझे क्या? मेरा प्रयोजन है केवल एक मुक्ति से।

जब लक्ष्य के प्रति जागरूकता बन जाती है तब पदार्थ कोरा पदार्थ-मात्र रह जाता है। वह बांधने की शक्ति को खो देता है। पदार्थ बांधता भी है और पदार्थ नहीं भी बांधता। पदार्थ तभी बांधता है जब व्यक्ति में जागरूकता नहीं होती। जब व्यक्ति में लक्ष्य के प्रति जागरूकता होती है तब पदार्थ उसे बांध नहीं पाता, यदि बाधा या विघ्न डालने वालों के हाथ में कोई ताकत हो तो दुनिया में कोई आदमी बाधाओं और विघ्नों से बचकर अपने इष्ट को पा नहीं सकता। इस दुनिया में विघ्न और बाधा उपस्थित करने वालों की कमी नहीं है। पग-पग पर बाधक तत्त्व उपस्थित हैं। क्या बीमारी फैलाने वाले कीटाणुओं की कमी है? इस दुनिया में मच्छरों और मक्खियों की कमी है? क्या इस दुनिया में अवरोधक तत्त्वों की कमी है? पूरा आकाश-मण्डल उनसे भरा पड़ा है। पूरे आकाशमण्डल में रोग पैदा करने वाले जीवाणु भरे पड़े हैं। किन्तु जब रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रबल होती है तब उनका आक्रमण विफल हो जाता है। जब मनुष्य की प्राण शक्ति कमजोर हो जाती है, तब उनका आक्रमण सफल हो जाता है। जब अदमी की जागरूकता की शक्ति प्रबल होती है, आदमी अपने लक्ष्य के प्रति पूरा जागरूक रहता है तो फिर कोई कठिनाई नहीं आती।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दो दिशाएं हैं। एक है—मूर्च्छा की दिशा और दूसरी है—जागरूकता की दिशा। मूर्च्छा अंधता है, जागरूकता प्रकाश है। आज का आदमी लक्ष्य से हटकर मूर्च्छा का जीवन जी रहा है। वह अंधकार में भटक रहा है। वह मूर्च्छित है। वह कभी-कभी जान-बूझकर अब्धेपन को स्वीकार कर लेता है, मूर्च्छा को स्वीकार कर लेता है।

यह नहीं मानना चाहिए कि सब अंधता को अनजान में ही स्वीकार करते हैं। इस दुनिया में जो आदमी मूर्च्छा का जीवन जी रहे हैं, वे सब अज्ञानी हैं, जानते हुए भी वे मूर्च्छा का जीवन जी रहे हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक नहीं हैं, मुक्ति के प्रति जागरूक नहीं हैं और अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं हैं। यह साधना बहुत दुर्गम साधना है। गृहस्थी में रहता हुआ कोई पदार्थों को छोड़ दे, यह संभव नहीं है। कैसे कोई व्यक्ति समाज का जीवन जीता हुआ, गृहस्थी में रहता हुआ, पदार्थों के बिना जीवन जी पाएगा? कैसे वह परिवार में जी सकेगा? कैसे कपड़े और अन्य साधनों के बिना जीएगा? कैसे आजीविका के बिना जीवन-यापन करेगा? सब भिखारी नहीं बन सकते। भिखारी बनने के लिए भीतर से भिखारी बनना होता है। भिखारी-जीवन एक अपराध है। सामाजिक व्यक्ति वैसा जीवन नहीं जी सकता। उसे पदार्थों का अर्जन करना होता है। फिर प्रश्न वही आ गया कि आदमी पदार्थों का अर्जन करेगा तो वह पदार्थों से बंधेगा और वह अर्थ के साथ जुड़ेगा। इस स्थिति में क्या वह उद्देश्य से नहीं भटक जाएगा? यह द्वन्द्व-सा लगता है, पर वास्तव में यह द्वन्द्व नहीं है। हमारी दृष्टि बहुत स्पष्ट होनी चाहिए कि पदार्थ को भोगना है और अस्तित्व के प्रति जागरूक रहना है। इन दोनों में संघर्ष नहीं है। ये दोनों साथ चल सकते हैं, अन्तिम बिन्दु तक साथ चल सकते हैं। जब मुक्ति का क्षण आता है तब ये अलग हो जाते हैं। उस बिन्दु तक ये साथ रह सकते हैं।

कुछ लोग बाह्य दृष्टि के आधार पर उलझ जाते हैं। वे सोचते हैं, पदार्थों का उपयोग करते हुए मुक्ति कैसे हो सकती है? यह संभव नहीं है। क्योंकि पदार्थों को छोड़ा नहीं जा सकता और उनको छोड़े बिना मुक्ति नहीं हो सकती। पर सोचना है कि पदार्थ बाधक कब बनते हैं? पदार्थ बाधक तब बनते हैं जब आदमी कि जागरूकता कम होती है। हम पदार्थों में न उलझें, उनके उपयोग में न उलझें। हम भीतर कि यात्रा शुरू करें, अपनी जागरूकता को बढ़ाएं। जैसे-जैसे हमारी जागरूकता बढ़ेगी, वैसे-वैसे हम अपने उद्देश्य के प्रति, लक्ष्य प्रति सावधान होंगे, उसके अनुरूप बनेंगे और उस अखण्ड ज्योति के साथ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हमारा तार जुड़ जाएगा। उस प्रकाश से हमारा पूरा जीवन प्रकाशित हो उठेगा, कोई समस्या और द्वन्द्व नहीं रहेगा।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग जागरूक होने का प्रयोग है। रोटी खाना, पानी पीना, सांस लेना, व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है पर इन सबको नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि जीवन-यात्रा पदार्थ के बिना चल नहीं सकती। सांस प्रतिक्षण लेना होता है। रोटी-पानी के बिना तो कुछ दिन रहा जा सकता है, पर सांस के बिना नहीं रहा जा सकता। रोटी-पानी के बिना भी दिन में तारे दीखने लग जाते हैं। बड़ी मुसीबत हो जाती है। प्रेक्षा से यह बोध प्राप्त होता है कि हम अपने अस्तित्व के प्रति जाग जाएं। जो अपने अस्तित्व के प्रति जाग जाता है, वह रोटी, पानी और सांस के प्रति भी जाग जाता है। फिर वह मूर्च्छा में नहीं रहेगा। न वह मूर्च्छा में खाएगा, पीएगा या सांस लेगा। उसकी सारी क्रियाएं योग बन जाएंगी। चलना गमनयोग हो जाएगा। भोजन करना आहारयोग हो जाएगा। पानी पीना पानयोग हो जाएगा। श्वास लेना, छोड़ना भी श्वासयोग बन जाएगा। ये सभी योग साधना के घटक बन जाएंगे। इन सबका योग हो, अतियोग नहीं। मिथ्यायोग या अतियोग दोष हैं। सारे मिथ्यायोग अतियोग बन जाते हैं किन्तु जागरूकता के बढ़ने पर वे योग बन जाते हैं। प्रश्न है जागरूकता को बढ़ाने का। जब भीतर से जागरूकता फूटती है तब आदमी अपने आप सोचता है—यह नहीं खाना है, यह नहीं करना है। जागरूकता का अभ्यास नहीं होगा तो खाने-पीने की लालसा नहीं छूटेगी।

मुक्ति या काम के परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता का विकास। जो व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हो जाता है उसके जीवन के हर व्यवहार में जागरूकता आ जाती है। भीतर में जब आग प्रज्वलित हो जाती है तब बाहर प्रकाश की रश्मियां आएंगी ही। वे रश्मियां एक ही दिशा में नहीं फैलेंगी। उसके बोलने में भी जागरूकता बढ़ेगी। उसके मुंह से फिर कोई अपशब्द नहीं निकल सकेगा। हाथ भी उठेगा तो जागरूकता के साथ। वह कभी चांटा नहीं मार सकेगा, हाथ का दुरुपयोग नहीं कर सकेगा। देखेगा तो भी पवित्र दृष्टि के साथ। उसमें दृष्टि का दोष धुल जाएगा। उसमें से अत्यन्त पवित्र धारा बहेगी प्रेम की। सोएगा तो सपने नहीं लेगा। सपने भी आएंगे तो जगाने वाले आएंगे, हैरान करने वाले सपने नहीं आएंगे। ऐसे भी सपने होते हैं, जो यथार्थ को प्रगट करने वाले होते हैं। हमारा ज्ञान जागृत अवस्था में ही सच्चा नहीं होता, वह स्वप्न में भी सच्चा होता है।

भगवान महावीर ने कहा—जो संवृत अनगार होता है उसके स्वप्न

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यथार्थ होते हैं। वह सत्य स्वप्न ही देखता है, मिथ्या और काल्पनिक स्वप्न नहीं देखता। उसकी स्वप्न-अवस्था और जागृत अवस्था में कोई अन्तर नही होता।

काम परिष्कार से जीवन की सारी दिशाएं बदल जाती हैं, सारा जीवन प्रकाशमय हो सकता है। ऐसा जागरूक जीवन जीना, केवल संन्यासी के लिए ही संभव नहीं है, एक गृहस्थ भी इन साधना-सूत्रों का आलम्बन लेकर साधना का जीवन जी सकता है, साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है और परिष्कार में निष्णात हो सकता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अवचेतन मन से सम्पर्क

प्रत्येक व्यक्ति सफलता का जीवन जीना चाहता है, विकास करना चाहता है, किन्तु यह जीवन की नियति है कि सफलता और असफलता, विकास और अविकास—दोनों साथ-साथ चलते हैं। इसका मूल कारण, जो मुझे लगता है, वह यह है कि हमारा अपने मूल व्यक्तित्व के साथ संपर्क नहीं है। हम अपने आपको जानते हैं पर पूर्णतः नहीं जानते। हमारे व्यक्तित्व का जो ऊपरी भाग है, उससे हम खूब परिचित हैं, किन्तु हमारे व्यक्तित्व का जो भीतरी भाग है, सूक्ष्म भाग है, उसे हम नहीं जानते। अखंड व्यक्तित्व के विकास के लिए ज्ञात और अज्ञात—दोनों को जानना होता है।

मनोविज्ञान ने जब मस्तिष्क की त्रि-आयामी व्याख्या प्रस्तुत की, तब अज्ञात को जानने का अवसर मिला। चेतन और अवचेतन मन से हम परिचित हैं। दोनों संबंध हैं। कभी चेतन मन अवचेतन मन में बदल जाता है और कभी अवचेतन मन चेतन में परिवर्तित हो जाता है। दोनों मिले जुले हैं। किन्तु अचेतन मन की कल्पना नये रूप में प्रस्तुत हुई है। इस अनकोन्शियस माइंड के विषय में फ्रायड ने जो कुछ कहा, वह नई बात थी और संभवतः आज भी वह नई मानी जाती है। उसने कहा—व्यक्ति की जो दमित वासनाएं और इच्छाएं हैं, वे अचेतन मन का रूप ले लेती हैं और फिर हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करती रहती हैं। मनुष्य के आचरण और व्यवहार को समझने के लिए मनोविज्ञान में अचेतन मन को बहुत महत्त्व दिया जाता है। यह अंतिम बात नहीं है, परन्तु आज का भारतीय विद्यार्थी भारत की प्राचीन परम्परा को नहीं जानता, इसलिए वह अवचेतन मन पर आकर रुक जाता है। उसे व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या नहीं मिलती, व्यवहार और आचरण का पूरा विश्लेषण उपलब्ध नहीं होता। केवल दमित वासनाएं और इच्छाएं ही हमारे व्यक्तित्व को प्रेरित करती हैं, यह बात अधिक तथ्यपूर्ण नहीं है। भारतीय दार्शनिक ने सूक्ष्म शरीर की बात बताई। यदि सूक्ष्म शरीर का हम अध्ययन करते तो और आगे बढ़ जाते, व्यवहार तथा आचरण की कई गुत्थियां सुलझ जाती।

आदमी का स्थूल या दृश्य शरीर ही सब कुछ नहीं है। इसके भीतर सूक्ष्म शरीर विद्यमान है। हम उसे कर्म-शरीर कहें, संस्कार-शरीर कहें या वासना शरीर कहें, वह भीतर विद्यमान है। आदमी की प्रत्येक प्रवृत्ति, चिन्तन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और आचरण का उसमें प्रतिबिम्ब होता है, अंकन होता है। जब-जब वह अंकन प्रगट होता है तब व्यक्तित्व की नई-नई चेतनाएं उद्भूत होती हैं। उस सूक्ष्म शरीर में केवल दमित वासनाएं ही नहीं हैं, अच्छे संस्कार भी हैं। यदि केवल इच्छाएं और वासनाएं ही होती तो व्यक्तित्व का रूप अत्यन्त भद्दा हो जाता। उसमें कभी सौन्दर्य नहीं आ पाता। व्यक्ति के जीवन में सौन्दर्य के लिए भी बहुत बड़ा अवकाश है। उसमें अच्छा आचरण भी है, अच्छा व्यवहार भी है। हमारे व्यक्तित्व में जितनी अच्छाइयां हैं, जितना सौन्दर्य है, वह दमित वासनाओं का परिणाम नहीं है। सूक्ष्म शरीर की व्याख्या में ये दोनों तथ्य बहुत स्पष्ट हो जाते हैं कि उसमें हमारा अच्छा और बुरा आचरण, अच्छा और बुरा चिन्तन—दोनों अंकित होते हैं, संचित होते हैं। जब ये संचित संस्कार प्रगट होते हैं तब अच्छाई भी प्रगट होती है और बुराई भी प्रगट होती है। दोनों की अपनी सीमाएं हैं, रेखाएं हैं।

इस अज्ञात और सूक्ष्म व्यक्तित्व के साथ हमारा संपर्क स्थापित हो, जीवन की सफलता के लिए अत्यन्त अपेक्षित है। वह व्यक्ति सफलता का जीवन नहीं जी सकता जो केवल स्थूल शरीर के आधार पर सारे निर्णय लेता है। हमारे सामने परिस्थितियां हैं, आनुवंशिकता का प्रश्न है और वैयक्तिक प्रेरणाएं भी हैं। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के तीन आयाम हैं—आनुवंशिकता, पर्यावरण और व्यक्तिगत संस्कार। इसके साथ चौथा आयाम (डाइमेन्शन) और जोड़ देना चाहिए। वह है कर्म। केवल इन तीनों से व्यक्तित्व की समग्र व्याख्या नहीं हो सकती। कर्म को जोड़ने पर ही समग्र व्याख्या की जा सकती है। आनुवंशिकता (हेरेडिटी) हमारे आचरण और व्यवहार को प्रभावित करती है पर सारी बातें उसकी परिधि में नहीं आतीं। प्राणी के अपने जीन्स हैं। उनमें जो निर्देश लिखित हैं, वे केवल आनुवंशिकता के आधार पर ही नहीं होते। उससे भी बड़ी बात एक और है। वह है कर्म। आज के जीन सिद्धान्त की तुलना यदि कर्म सिद्धान्त से की जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। कर्म के सिद्धान्त को चौथा आयाम या पहला आयाम माना जा सकता है। कर्म है तो आनुवंशिकता है, फिर पर्यावरण और फिर वैयक्तिक प्रेरणाएं। इन चारों के आधार पर यदि जीवन को समझने का प्रयास किया जाए तो आदमी सफल हो सकता है और अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

कुछ वर्ष पूर्व हम उदयपुर में थे। एक भाई ने कहा—मैं इतना इलाज करा चुका हूं कि चिकित्सा से तंग आ गया हूं। मेडिकल साइंस कहती है कि [illegible] व्याधि का इलाज अभी तक खोजा ही नहीं गया। उसके कथन से एक [illegible] बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि कोई भी समाधान किसी एक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विद्या के पास नही है। उसके लिए और अनेक विधाएं हैं। उनका अनुगमन करने से समाधान मिल जाता है। इसी प्रकार जीवन की समग्रता को किसी एक दृष्टिकोण से नहीं समझा जा सकता। समग्रता को समग्रता के दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है।

कुछेक लोग परिस्थिति को ही सब कुछ मानकर वहीं रुक जाते हैं, निराश हो जाते हैं। यह सच है कि जितने भी निषेधात्मक भाव हैं, नेगेटिव एटिट्यूड हैं, उनके उद्दीपन में परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ रहता है। प्रत्येक व्यक्ति कह देता है, मैं क्या करूं, परिस्थिति ही ऐसी थी। नेगेटिव दृष्टिकोण निराशा का बहुत बड़ा आधार है। परिस्थिति का भी अपना मूल्य है, अपना स्थान है, किन्तु सब कुछ परिस्थिति ही नहीं है। एक समान परिस्थिति में पांच व्यक्ति जीते हैं। पांचों की अनुभूति में अन्तर होता है।

एक दम्पति मेरे पास आया। पति बोला, मैं बहुत दुःखी हूं। मेरे जीवन के क्या ग्रह हैं कि एक के बाद दूसरी समस्या आती रहती है। मैं जीवन से निराश हो गया हूं। मैंने कहा—निराशा की बात ही क्या है? समस्याएं प्रत्येक के जीवन में होती हैं। इस दुनिया में जो जन्मा है, उसे दुःख दर्द का सामना करना ही होगा। क्या राम और कृष्ण को कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा? क्या महावीर और बुद्ध के जीवन में समस्याएं नहीं आईं? कोई भी महापुरुष ऐसा नहीं हुआ, जिसने समस्याओं, कठिनाइयों और दुःखों का सामना न किया हो। अन्तर इतना ही आता है कि महान व्यक्ति वह होता है जिसका दृष्टिकोण विधायक होता है, जो समस्या में से समाधान निकाल लेता है, दुःख में सुख निकाल लेता है। जिसका दृष्टिकोण निषेधात्मक होता है, वह सुख में से भी दुःख निकाल लेता है। ऐसी घटनाएं आए दिन घटती रहती हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए राई जितनी समस्या भी पहाड़ बन जाती है। उसका मनोबल कमजोर होता है। वह कुछ भी सह नहीं पाता। जिसका दृष्टिकोण सम्यक होता है, जिसका मनोबल विकसित होता है उसके लिए पहाड़ जैसी समस्या भी राई जितनी छोटी बन जाती है। जब तक हम अपनी अन्तर की शक्ति को विकसित नहीं करेंगे तब तक हमारे लिए कहीं भी सुख नहीं है। क्या हम कल्पना करते हैं कि परिस्थिति बदल जाने पर, वातावरण बदल जाने पर, प्रतिकूलताएं समाप्त हो जाने पर, अनुकूलताएं आ जाएंगी। न भूतं, न भविष्यति—ऐसा न हुआ है और न होगा, क्योंकि इस जगत की प्रकृति ही कुछ ऐसी है। एक समस्या समाहित होती है और दूसरी खड़ी हो जाती है।

मनुष्य ने अपनी सुख-सुविधा के लिए अनेक उद्योग धन्धे प्रारम्भ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

किये। उनसे प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु सुलभ हो गई है। पुराने जमाने में जो वस्तुएं बड़े लोगों को ही सुलभ हो पाती थीं, वे सब वस्तुएं आज सर्व-साधारण व्यक्ति को सुलभ हैं। यह समस्या का समाधान हुआ पर इससे प्रदूषण की समस्या खड़ी हो गई। उद्योग बढ़ेगा तो प्रदूषण भी बढ़ेगा। एक समस्या के साथ दूसरी समस्या खड़ी होती है, इसे रोका नहीं जा सकता। यह कैसे माना जा सकता है कि धरती पर स्वर्ग उतर आएगा। एक दिन ऐसा आएगा कि मनुष्य समस्याओं से मुक्त हो जायेगा। क्या समृद्धि के शिखर पर पहुंचने वाले राष्ट्र समस्याओं से मुक्त हैं? क्या आर्थिक विकास के साथ-साथ समस्याएं समाप्त हो जाती हैं? आज विकसित राष्ट्रों में पागलपन बढ़ गया। वहां पागलों की संख्या अधिक है। अविकसित राष्ट्रों में यह समस्या नहीं है। पर दूसरी अनेक समस्याएं हैं।

समस्या का स्थायी उपाय है—बाहरी व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व का संतुलन। इसको हमने भुला दिया। भारतीय चिन्तन में इसका बहुत विकास हुआ था पर आज वह विस्मृत कर दिया गया है। दोनों व्यक्तित्वों का विकास होने पर ही समस्या का समाधान होता है। जैसे-जैसे बाहरी व्यक्तित्व का विकास होता है वैसे-वैसे साथ ही साथ आन्तरिक व्यक्तित्व का विकास होना चहिए। वैसी स्थिति में ही सहन करने और कठिनाइयों को झेलने की क्षमता बढ़ती है। जो कष्टों को सहते हैं, उनके जीवन में कष्ट कम हो जाते हैं। जो कष्टों से कतराते हैं, उन्हें अधिक से अधिक कष्ट घेरते हैं। कुछ व्यक्ति पैर में कांटा चुभने मात्र से आकाश-पाताल को एक कर देते हैं और कुछ बड़े से बड़े कष्ट को निर्विकार भाव से सहन करते हैं। उनके चेहरे पर एक शिकन भी नहीं आती। यह परिस्थिति का अन्तर नहीं है। यह अन्तर है आंतरिक-विकास का। प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त शक्ति है, अनन्त आनन्द और अनन्त चेतना है। यदि इनका विकास किया जाए, इनका स्पर्श किया जाए तो बाहर की घटना आएगी पर सताएगी नहीं । समस्या आएगी, पर अंधकार नहीं होगा, प्रकाश लुप्त नहीं होगा, पैर नहीं फिसलेंगे, चरण रुकेंगे नहीं, गति में अवरोध नहीं आएगा। हमारे जीवन में इन दोनों पक्षों में संतुलन आवश्यक है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि परिस्थिति का कोई मूल्य नहीं है। वह भी आदमी को प्रभावित करती है किन्तु केवल वातावरण को ही सब कुछ मान लेने पर कठिनाई उपस्थित होती है। आज आदमी केवल बाह्य व्यक्तित्व से परिचित है। उसके आधार पर ही सारा चिन्तन निर्मित है। इसलिए वह व्यवस्था-परिवर्तन को परिवर्तन का मूल घटक मान बैठा है। यह भ्रान्ति है। आन्तरिक परिवर्तन के बिना कुछ भी होना जाना नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यान का प्रयोग जीवन के सर्वांगीण विकास का प्रयोग है। यह जीवन के आचरण और व्यवहार को प्रभावित करता है। समग्र व्यक्तित्व या अखंड व्यक्तित्व के लिए आवश्यक होता है कि आदमी बाहर को देखे और अन्दर को भी देखे। जो ऐसा करता है, वह अखंड व्यक्तित्व का स्वामी बन जाता है।

महापुरुषों, अवतारों की प्रतिमाओं में आंखें अर्द्धनिमीलित दिखाई जाती हैं। यह भी ध्यान की एक अवस्था है। ध्यान तीन प्रकार से किया जाता है—खुली आंखों से, बन्द आंखें से और अर्धनिमीलित आंखों से। यह भी एक प्रयोग है। साधक अर्ध-खुली आंखों से भीतर भी झांकता है और बाहर भी देखता है। 'जहा अंतो तहा बाहिं, ' जहा बाहिं तहा अंतो' जैसा भीतर वैसा बाहर और जैसा बाहर वैसा भीतर। बाह्य व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व—दोनों का ध्यान करना जीवन की समग्र दृष्टि है। जिसने केवल बाह्य को ही देखने का प्रयत्न किया, वह समस्या से मुक्त नहीं हो सकता। जिसने केवल अन्तर को ही देखने का प्रयत्न किया, वह भी समस्या से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य समस्याएं यथार्थ की समस्याएं हैं, उनका समाधान सम्भवतः भीतर न मिल सके। रोटी की समस्या खेती से ही समाहित हो सकती है ध्यान से नहीं। रोटी का प्रश्न यथार्थ का प्रश्न है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक मनोवैज्ञानिक ने लिखा—दो शब्द हैं, रोटी और आस्था। रोटी का स्थान आस्था नहीं ले सकती और आस्था का स्थान रोटी नहीं ले सकती। आस्थाविहीन रोटी और रोटीविहीन आस्था—समस्या का समाधान नहीं है। आदमी को रोटी भी चाहिए और आस्था भी चाहिये। आस्था का काम आस्था से होगा और रोटी का काम रोटी से होगा। आज की राजनैतिक प्रणालियों ने रोटी पर अतिरिक्त भार दे डाला, इसलिए आस्था खंडित हो गई। आस्था के खंडित होने पर क्या-क्या परिणाम आते हैं, वे सब उन-उन प्रणालियों में उभर कर आ रहे हैं। कोरी आस्था से रोटी नहीं मिलेगी, गरीबी नहीं हटेगी। समग्रता का दृष्टिकोण यह होगा कि रोटी के स्थान पर रोटी और आस्था के स्थान पर आस्था। बाहरी व्यक्तित्व के स्थान पर बाहरी व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व के स्थान पर आन्तरिक व्यक्तित्व—दोनों का समन्वय और संतुलन होना चाहिए।

ध्यान इस संतुलन को स्थापित करने की पद्धति है। श्वास-प्रेक्षा का प्रयोग संतुलन का प्रयोग है। वह भीतर भी आता है और बाहर भी जाता है। भीतर कुछ लेकर जाता है और बाहर कुछ लेकर आता है। यदि श्वास को भीतर ही रखें तो कार्बन बाहर नहीं आएगा। यदि उसे बाहर ही रखें तो ऑक्सीजन भीतर नहीं जाएगी, प्राणशक्ति प्राप्त नहीं होगी।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यह तो जीवन का क्रम है। ध्यान का क्रम भी यही है कि अपने भीतरी व्यक्तित्व का अनुभव भी कर सकें और बाहरी व्यक्तित्व का भी अनुभव कर सकें। हमने आन्तरिक व्यक्तित्व से अपरिचित रहकर संभवतः बहुत खोया है। हमारे सूक्ष्म शरीर में दो प्रकार की धाराएं प्रवहमान हैं। एक वह धारा है, जिसको हमने अपने बुरे आचरण, बुरे भाव और बुरे व्यवहार के द्वारा अर्जित किया है और एक वह धारा है, जिसको हमने अच्छे चिंतन, अच्छे भाव, अच्छे आचरण-व्यवहार द्वारा अर्जित किया है। कौन-सी धारा कब प्रगट हो, यह हमारी जागरूकता और पुरुषार्थ पर निर्भर है। यदि हम अप्रमत्त और जागरूक रहते हैं तो बुरे विचार की धारा को रोककर अच्छे विचार की धारा को प्रवाहित कर सकते हैं। यदि हम जागरूक नहीं हैं तो बुरे विचार की धारा प्रवाहित हो जाती है। ध्यान का प्रयोग जागरूकता का प्रयोग है। श्वास के प्रति जागरूक होने का अर्थ है जीवन की समग्र जागरूकता का विकास। जो व्यक्ति श्वास के प्रति जागरूक बनता है, वह नाड़ी-संस्थान पर नियन्त्रण करने में समर्थ हो जाता है। स्थूल व्यक्तित्व और सूक्ष्म व्यक्तित्व, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच एक ग्रन्थि सेतु का कार्य करती है। वह है पिनियल ग्रन्थि। श्वास की जागरूकता से वह प्रभावित होती है। उनमें परिवर्तन आता है। उसमें परिवर्तन आने का अर्थ है, व्यक्तित्व में रूपान्तरण। जब पिनियल इन-एक्टिव होती है, तब वासना बढ़ जाती है, आवेग बढ़ जाते हैं, स्वभाव असन्तुलित हो जाता है। संतुलित आवेग, संतुलित विचार और संतुलित आचार-व्यवहार जिसमें होता है, वह भिन्न प्रकार का व्यक्ति होता है। यदि मनुष्य जागरूकता का विकास करने में सफल होता है, वह आचरण और व्यवहार को प्रभावित करने वाले रसायनों का परिष्कार कर सकता है तो वह उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

एक व्यक्ति ने पूछा—दीर्घ आयु का रहस्य क्या है? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है कि श्वास की संख्या जितनी कम होगी, उतनी ही दीर्घ होगी आयु। श्वास की संख्या ज्यादा होगी तो आयु कम होगी। आज के वैज्ञानिक दीर्घ आयुष्य की खोज में लगे हुए हैं। उन्होंने कुछ सूत्र ढूंढ़ निकाले हैं। यह खोज बहुत सीधी और महत्त्वपूर्ण है कि आयुष्य की अल्पता या दीर्घता श्वास पर निर्भर करती है। आवेग श्वास की संख्या को बढ़ाते हैं। इसका तात्पर्य है—आयुष्य का काल कम होता है। जब आवेग शान्त होते हैं तो श्वास की संख्या कम होती है। आयुष्य दीर्घ होता है।

मनुष्य अनेक समस्याओं से आक्रान्त है। कुछ समस्याएं ऐसी हैं, जिन पर उसका नियन्त्रण नहीं हो पाता। वह प्रत्यक्षतः उनका जिम्मेवार भी नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लेकिन कुछ समस्याओं का समाधान व्यक्ति स्वयं कर सकता है। वह उन्हें दूसरों के भरोसे क्यों छोड़ता है? अपने व्यक्तित्व का समीकरण, संतुलन और परिष्कार व्यक्ति के हाथ में है। उनके प्रति ध्यान क्यों नहीं जाता? उस ओर ध्यान जाना अत्यन्त आवश्यक है। पूरे व्यक्तित्व को मांजने-संवारने का उपाय है—ध्यान, श्वास के प्रति जागरूक होना। जो इसका सतत अभ्यास करता है, उसे यह अवश्य अनुभूति होती है—आचरण और व्यवहार बदला है, दृष्टिकोण बदला है, जीवन सुखद और वरदान बना है। उपदेश से आदमी कम बदलता है। आन्तरिक व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए, नकारात्मक भावों के स्थान पर विधेयात्मक भावों का विकास करने के लिए कुछ प्रयोग अपेक्षित हैं और वे प्रयोग जीवन के लिए अत्यन्त मूल्यवान हो सकते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मस्तिष्क के नियंत्रण का विकास

एक सूअर सिंह के पास आकर बोला—मुझसे लड़ो। सिंह ने उसकी बात टाल दी। उसने सोचा, क्या लडूं सूअर के साथ। सूअर ने दूसरी बार कहा, तीसरी बार कहा, पर सिंह तैयार नहीं हुआ। चौथी बार सूअर ने कहा—'या तो तुम मेरे साथ लड़ो, या फिर मैं सबको कहूंगा कि सिंह मेरे से हार गया।'

सिंह बोला—

गच्छ सूकर! भद्रं ते, वद सिंहो जितो मया।
पण्डिता एव जानन्ति, सिंहसूकारयोर्बलम्।।

—भाई सूअर! जा, सबको कह दे कि मैंने सिंह को हरा डाला है। मुझे इसकी चिंता नहीं है, क्योंकि जानकार व्यक्ति अच्छी तरह जानते हैं कि सिंह और सूअर के बल में कितना अन्तर होता है। कहां सिंह और कहां सूअर!

यह पौराणिक कहानी है। आज भी ऐसा ही कुछ हो रहा है। वैज्ञानिकों ने मनुष्य की भावनाओं का अध्ययन कर रसायनों के द्वारा भावों को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। इससे स्थिति बदल गई है। एक वैज्ञानिक ने सिंह और खरगोश पर प्रयोग किया। उन दोनों के मस्तिष्क पर इलेक्ट्रोड लगा दिए। फिर दोनों को लड़ने के लिए बाध्य किया। दोनों लड़ने लगे, पर आश्चर्य, सिंह एक कोने में दुबक कर बैठ गया और खरगोश बार-बार उस पर आक्रमण करने लगा। खरगोश सिंह पर हावी हो गया। सिंह पराजित की भांति बैठा रहा। सिंह खरगोश का मुंह ताक रहा है और खरगोश आक्रमण कर रहा है। क्या यह संभव है कि सिंह खरगोश से हार जाये? कभी संभव नहीं है। पर प्रयोग से यह भी संभव बन जाता है।

हमारा मस्तिष्क विद्युत प्रवाह और रसायनों द्वारा बहुत प्रभावित और अनुशासित है। दोनों व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। संभव है—प्राचीनकाल में भी यह तथ्य ज्ञात कर लिया गया था उसी के आधार पर विविध प्रयोग का विधान किया गया था। आज के वैज्ञानिक यन्त्रों के माध्यम से इन सचाइयों का पता लगा रहे हैं और वे अनेक निष्कर्षों पर पहुंचे हैं। कौन सा रसायन क्या प्रतिक्रिया पैदा करता है? कौन से केन्द्र पर इलेक्ट्रोड लगाने से क्या प्रतिक्रिया होती है? ये तथ्य आज बहुत स्पष्ट हो चुके हैं। हमारे शरीर में प्रवृत्तियों और आवेगों के उद्भव और नियमन—दोनों के केन्द्र बने हुये हैं। शरीर में ऐसे केन्द्र हैं, जो हमारे आवेगों, संवेगों और प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं और ऐसे भी केन्द्र

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हैं, जो उन पर नियन्त्रण करते हैं। हमारी आंतरिक प्रक्रिया में यह सहजभाव से चल रहा है।

नाड़ी-संस्थान दो भागों में विभक्त है—स्वचालित नाड़ी-संस्थान और ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान। स्वचालित नाड़ी-संस्थान से आंतरिक क्रियाएं अपने आप हो रही हैं। क्रोध की उत्पत्ति का एक केन्द्र है तो उसके नियमन का भी केन्द्र है। दोनों व्यवस्थाएं हैं। यदि उत्पत्ति का केन्द्र हो और नियमन का केन्द्र न हो तो क्रोध या अन्य आवेग इतना आ सकता है कि वह समूचे शरीर की प्रक्रिया को बदल सकता है। यह शरीर की अपनी व्यवस्था है और उसमें दोनों प्रकार के केन्द्र हैं। एक केन्द्र है हाइपोथेलेमस में 'डोसोमिलियन न्यूक्लीयस'। यह क्रोध को उत्पन्न करता है, उत्तेजना पैदा करता है। वहीं दूसरा केन्द्र है—'वेन्ट्रमिलियन न्यूक्लीयस' जो क्रोध या उत्तेजना पर नियंत्रण करता है। यदि पहले केन्द्र को निकाल दिया जाए तो क्रोध आएगा ही नहीं और यदि दूसरा केन्द्र निकाल दिया जाए तो क्रोध या उत्तेजना पर नियंत्रण ही नहीं हो पाएगा।

यह सच है कि हमारे शरीर की आंतरिक व्यवस्थाओं में और स्व-चालित नाड़ी-संस्थान में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां हैं—उद्भव और नियमन। दोनों अपने आप होते हैं। किन्तु क्रोध जो अभिव्यक्त होता है, उस पर नियंत्रण करने का कोई साधन ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान में नहीं है। वह इस पर नियंत्रण नहीं कर सकता।

ध्यान की विकसित प्रक्रिया में ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण करने और क्रोध को शांत करने की प्रक्रिया का निर्देश भी है। स्वचालित नाड़ी-संस्थान और ऐच्छिक नाड़ी-संस्थान—दोनों पर हमारा नियमन हो सकता है। आज के मनोविज्ञान में यह माना गया है कि सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम, आटोनोमिक नर्वस सिस्टम और हाइपोथेलेमस ये तीन बड़े नियामक केन्द्र हैं और इनके साथ-साथ मस्तिष्क का कुछ भाग तथा नाड़ी-संस्थान का कुछ भाग भी नियमन करता है। किन्तु योग और अध्यात्म की प्रक्रिया में इनसे हटकर कुछ और बातें भी बतलाई गई हैं, जो केवल शारीरिक विधि व्यवस्था से संबंधित नहीं हैं। उनका सम्बन्ध भावना से है। वे भावात्मक प्रक्रियाएं हैं, जिनके द्वारा उन केन्द्रों में परिवर्तन लाया जा सकता है। रसायनों के द्वारा परिवर्तन करना, विद्युत-प्रवाह अथवा इलेक्ट्रोड के द्वारा परिवर्तन करना—यह एक प्रक्रिया है किन्तु स्थाई नहीं है। जब तक इलेक्ट्रोड लगा रहता है, तब तक उसका प्रभाव बना रहता है और उसके हटने पर प्रभाव गायब हो जाता है। रसायन का इंजेक्शन लगाते ही क्रोध उपशांत हो जाता है पर उसका प्रभाव भी स्थायी नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होता। कुछ समय पश्चात स्थिति पूर्ववत हो जाती है।

एक अमेरिकी डॉक्टर ने कुछ ऐसे रसायनों को खोजा है, जो चिन्ता उत्पन्न करते हैं। चिन्ता को मिटाने वाले नहीं, चिन्ता को पैदा करने वाले। एक आदमी शांत है, प्रसन्नचित्त है, उसे उस रसायन का इंजेक्शन लगाया जाए, वह चिंता से ग्रस्त हो जाएगा। जब तक उस इंजेक्शन का प्रभाव रहेगा वह चिंता से ग्रस्त रहेगा, प्रभाव समाप्त होते ही चिंता भी समाप्त हो जाएगी। अथवा दूसरे रसायन का इंजेक्शन देते ही चिंता समाप्त हो जाएगी। चिंता को उत्पन्न किया जा सकता है, चिंता को समाप्त किया जा सकता है। भय पैदा किया जा सकता है, भय मिटाया जा सकता है। हमारे सारे भाव पैदा किए जा सकते हैं। मिटाए जा सकते हैं। जितने भाव बनते हैं, उतने ही रसायन बनते हैं और उतना ही उन पर विद्युतीय प्रभाव हो सकता है।

हमारा मस्तिष्क इन दो प्रभावों—रासायनिक प्रभाव और विद्युतीय प्रभाव के बीच काम करता है। यह प्रश्न अनेक बार आता है कि जब इन सब उपायों से परिवर्तन घटित किया जा सकता है तो फिर ध्यान का प्रयोग क्यों किया जाए। इन्जेक्शन और इलेक्ट्रोड का प्रयोग सीधा है। उनका प्रयोग किया और क्रोध शांत, कामवासना शांत, उत्तेजना शांत। फिर क्यों तीन-छह मास तक ध्यान किया जाए? क्यों इतनी लम्बी प्रक्रिया किया जाए? क्यों इतना समय लगाया जाए? इतना बड़ा दीर्घकाल-साध्य प्रपंच क्यों करें? प्रश्न ठीक है। इसका समाधान यही है कि ध्यान की प्रक्रिया के अतिरिक्त सारे उपाय अस्थायी प्रभाव पैदा करने वाले होते हैं उनसे स्थायी हल नहीं होता। स्थायी समाधान के लिए एकमात्र उपाय है ध्यान। अध्यात्म ने स्थायी समाधान की दिशा में खोज की और उसने उन-उन केन्द्रों की पूरी प्रक्रिया को ही बदल देने का उपक्रम किया। उस उपक्रम से प्रवृत्ति और भावना—दोनों बदली जा सकती हैं।

शरीरशास्त्रियों ने केवल शरीर के आधार पर उपाय खोजा और मानस-शास्त्रियों ने केवल मन और मस्तिष्क के आधार पर उपाय खोजा। उनकी अभी तक वहां पूरी पहुंच नहीं हो पाई है कि भाव कहां से पैदा हो रहे हैं? इनका स्रोत कहां है? यह बहुत सूक्ष्म रहस्य है, सूक्ष्म समस्या है। इसीलिए कभी-कभी कुछ प्रयोगों में अन्तर्विरोधी बात भी आती है। यह विरोधाभास जीवन का एक अंग बन चुका है। प्रत्येक आदमी अन्तर्विरोधों का जीवन जीता है—कहता कुछ है और करता कुछ है। अध्यात्म का मार्ग विरोधाभासों से मुक्त, निर्द्वन्द्व और स्पष्ट मार्ग है। उसमें कोई विसंगति नहीं है। वह केवल शोधन की प्रक्रिया है, रेचन की प्रक्रिया है। आज के लोग मनोविज्ञान

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के संदर्भ में एक भ्रांत धारणा को लिए चल रहे हैं कि भारतीय धर्म दर्शन दमन की प्रक्रिया सिखाते हैं। यह भ्रांति है। धर्म-दर्शन में कहीं भी दमन की बात नहीं है। फिर चाहे वह सेक्स का प्रश्न हो, क्रोध या आवेग का प्रश्न हो, वहां दमन मान्य नहीं है। जो धर्म दमन की प्रक्रिया का संवाहक है, वह धर्म नहीं हो सकता, और कुछ भी हो सकता है। धर्म की पूरी प्रक्रिया शोधन और रेचन की प्रक्रिया है। उसका उद्देश्य है वृत्ति का शोधन या रेचन। मानसिक वृत्तियों के निराकरण की जो मनोवैज्ञानिक विधियां हैं, पद्धतियां हैं, उनमें एक विधि दमन की भी है और एक विधि सब्लीमेशन—उदात्तीकरण की भी है। उसमें एक स्वेच्छिक निर्णय की विधि है और एक विवेकपूर्ण निर्णय की विधि है। ये चार विधियां प्रचलित हैं। धर्म की चार पद्धतियां हैं—स्वाध्याय, ध्यान, भाव-विशुद्धि और तपस्या। इनसे वृत्तियों का शोधन होता है, रेचन होता है।

स्वाध्याय एक पद्धति है, जिससे भाव को बदला जा सकता है। अच्छा विचार और अच्छा चिंतन करने से, अच्छे साहित्य का अध्ययन-मनन करने से भाव बदल जाता है, वृत्ति बदल जाती है। यह एक उपाय है शोधन करने का। यह कहना कठिन है कि यह कितना प्रभावी होता है। यह प्रभाव डालता है यदि विधि के अनुसार स्वाध्याय किया जाए। आदमी स्वाध्याय करना नहीं जानता। पढ़ना मात्र स्वाध्याय नहीं है। उसके साथ चिंतन-मनन जुड़ना चाहिए। जब तक चिंतन-मनन नहीं जुड़ता तब तक स्वाध्याय लाभप्रद नहीं होता। हमने आधी बात पकड़ी है, आधी छोड़ दी है। इसीलिए वांछित फल नहीं मिल रहा है। आज का आदमी पढ़ता बहुत है, पर बदलता नहीं। धर्म की बात सुनता बहुत है पर बदलता नहीं। यह आज का ज्वलंत प्रश्न है। यह प्रश्न इसलिए उभर रहा है कि आदमी ने आधी बात को स्वीकार किया है और आधी बात को छोड़ दिया है। तीन तथ्य साथ-साथ चलते हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। तीनों जुड़े हुए हैं। इनको अलग नहीं किया जा सकता। हमने एक पैर तोड़ डाला और अपेक्षा करते हैं कि आदमी लंगड़ा न चले। यह कैसे संभव होगा? ठीक चलने के लिए दोनों पैर चाहिए। लंगड़ा आदमी लड़खड़ता ही चलेगा। सुना या पढ़ा, इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसके बाद मनन और निदिध्यासन भी अपेक्षित होता है। मनन की अवधि लम्बी होनी चाहिए। भोजन करने में दस-बीस मिनट लगते हैं, पर उसे पचाने का काल लम्बा होता है। भोजन को पचाने के लिए तीन-साढ़े तीन घण्टा चाहिए। खाने की अवधि अल्प और पचाने की अवधि ज्यादा। इसी प्रकार पढ़ने का समय थोड़ा और उसे पचाने का समय अधिक चाहिए। यदि दिन में एक पृष्ठ पढ़ा जाए

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तो उसे पचाने के लिए पचास पृष्ठ पढ़ने जितना समय चाहिए। मनन के लिए लम्बा समय चाहिए। मनन के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह निश्चित ही हमारे भाव परिवर्तन के लिए प्रभावी हो सकता है। कोरा सुनना या पढ़ना प्रभावी नहीं हो सकता।

किसी ने ठीक ही लिखा होगा कि पुरुष एक कान से सुनता है और दूसरे कान से निकाल देता है। स्त्री दोनों कानों से सुनती है और मुंह से निकाल देती है। वह स्वाध्याय बहुत प्रभावी हो सकता है, परिवर्तन का सशक्त माध्यम बन सकता है, जिसके साथ मनन जुड़ा हुआ होता है। संभवतः कठिनाई यह हो रही है कि आज आदमी बहुत अधिक पढ़ता है। वह इतना ज्यादा पढ़ता है कि उसके पास मनन करने का अवकाश ही नहीं रहता। आज विद्यालयों में कोर्स इतना भारी भरकम होता है कि विद्यार्थी को मनन करने का समय ही नहीं मिल पाता। छोटे-छोटे विद्यार्थी जब स्कूल जाते हैं, तब बेचारे अपनी पुस्तकों का बोझ भी नहीं उठा पाते। एक नौकर उनके साथ चलता है और जो स्वयं ले जाते हैं वे बहुत कठिनाई का अनुभव करते हैं। कोर्स बहुत भारी है। प्राचीन पद्धति बहुत भिन्न थी। गुरु पाठ पढ़ाते और फिर विद्यार्थी को मनन करने के लिए कहते। उसे पूरा समय दिया जाता मनन के लिए। प्राचीन प्रणाली—पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायए। एक प्रहर तक पढ़े और एक प्रहर तक पढ़े हुए पाठ की अनुप्रेक्षा करे। उस पर अनुचिंतन करे, उस पर मनन करे। यह क्रम था। पठन और मनन—दोनों साथ-साथ चलते थे। मनन के द्वारा जो नवनीत मिलता है, जो उपलब्धि होती है वह केवल पढ़ने से नहीं होती। वह स्वाध्याय परिवर्तन का घटक बनता है, जिसमें श्रवण और मनन विभक्त नहीं है।

दूसरा तत्त्व है—ध्यान। ध्यान के द्वारा वृत्तियों का परिवर्तन होता है, मस्तिष्क का नियमन होता है। इससे नाड़ी-संस्थान और ग्रंथि-संस्थान पर नियंत्रण होता है। आज के डॉक्टर शरीर की विभिन्न धातुओं, सूक्ष्म नाड़ियों, शिराओं और रक्ताभिसरण से परिचित हैं, हृदय और मस्तिष्क के फंक्शन से परिचित हैं, किंतु प्राणधारा से परिचित नहीं हैं। एक्यूपंचर और एक्यूप्रेजर में उस पर विचार किया गया है। ये दोनों चिकित्सा पद्धतियां प्राणधारा के आधार पर चलती हैं। प्राणधारा की प्रक्रिया परिवर्तन की बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। ध्यान के द्वारा हम प्राणधारा को प्रभावित करते हैं। ध्यान-काल में कहा जाता है—अमुक केन्द्र पर ध्यान को एकाग्र करो। इसका तात्पर्य है कि जहां चित्त जाएगा, टिकेगा, वहां प्राणधारा का प्रवाह अधिक हो जाएगा। प्राण और चित्त—दोनों का योग है। कल्पना करें कि एक व्यक्ति की अंगुली

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

में दर्द है। वह अंगुली पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। थोड़े समय बाद उसें अनुभव होने लगेगा कि दर्द कम हो रहा है। यह कोई चमत्कार नहीं है। यह तो एक नियम है। जहां चित्त एकाग्र होता है, वहां प्राण का अतिरिक्त प्रवाह होने लगता है। प्राण के प्रवाह की अतिरिक्तता अवरोध को समाप्त करती है और अवरोध के समाप्त होते ही दर्द मिट जाता है।

तीन प्रकार के अवरोध हैं—शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। ध्यान के द्वारा ये अवरोध समाप्त होते हैं। प्रेक्षा का सामान्य अर्थ है—देखना किन्तु देखने की भी एक पद्धति है। देखने का अर्थ आंखों से देखना नहीं है। उसका अर्थ है अनुभव करना और वह भी राग-द्वेषमुक्त भाव से अनुभव करना, तटस्थ और समता भाव से देखना। केवल देखना, ओन्ली परसेप्सन' और कुछ भी नहीं, केवल देखना। जब इस शुद्ध चेतना के द्वारा देखा जाता है तब परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। जब हम दर्शन केन्द्र, ज्योति केन्द्र अथवा आनन्द केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तब सारी स्थितियां बदलनी शुरू हो जाती हैं।

आज दर्शन शब्द दूसरे अर्थ में रूढ़ हो गया है। जो दर्शन आज पढ़ाया जा रहा है, वह मात्र एक तर्कशास्त्र है। आज एक वकील के धंधे में और एक दार्शनिक के धंधे में कोई अन्तर नहीं लगता। दोनों का धंधा है तर्कों को खोजना और जय-पराजय के लिए प्रवृत्ति करना। एक को हराना और एक को जिताना। यही काम एक दार्शनिक कर रहा है और यही काम एक वकील कर रहा है।

दर्शन का मूल अर्थ है—साक्षात्कार, साक्षात अनुभव। जो तर्क और शब्द के माध्यम से जाना जाता है, वह साक्षात्कार नहीं है। तर्क और शब्द के बिना जो जाना जाता है वह है साक्षात्कार और वह है दर्शन। प्रेक्षा का अर्थ है दर्शन और दर्शन है साक्षात्कार की प्रक्रिया। परिवर्तन का सशक्त माध्यम है—दर्शन।

ध्यान शब्द 'ध्यैङ् चिंतायाम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। धातु का अर्थ एक है—चिंतन करना। किंतु अर्थ का विकास हुआ और ध्यान शब्द का अर्थ केवल दर्शन रह गया। इसीलिए संस्कृत कोशों में 'निद्ध्यानं अवलोकनं' ऐसा मिलता है। इसका अर्थ हुआ, ध्यान करना अर्थात् देखना, अवलोकन करना। चिंतन गौण हो गया और देखना मुख्य हो गया।

देखना एक शक्तिशाली प्रक्रिया है परिवर्तन की। जो व्यक्ति देखने की कला को सीख लेता है, वह व्यक्ति बदलने की प्रक्रिया में सजग हो जाता है। विचार आए तो विचारों को देखो। कुछ ही क्षणों में ऐसा लगेगा कि विचार गायब हो गए हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विख्यात मनोवैज्ञानिक 'जुंग' ने लिखा—जब मैं बीमार हुआ तब एक मानसिक चिकित्सक के पास गया। चिकित्सक ने मुझे लिटा दिया और रिलेक्स होने के लिए कहा—कायोत्सर्ग के लिए कहा। फिर उसने पूछा—'अब बताओ कि तुम क्या सोच रहे हो? सोचो और जो-जो विचार आएं, उन्हें बताते चले जाओ। ज्यों ही मैंने विचारों पर ध्यान दिया कि विचारों को देखूं और बताऊं, त्यों ही वे सारे विचार गायब हो गए, विचार आने बन्द हो गए।'

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। विचार आए तो विचार को देखो, क्रोध या आवेग उभरे तो उसे देखो। जो कुछ हो रहा है, शरीर के क्षेत्र में, मस्तिष्क या विचार के क्षेत्र में, भाव के क्षेत्र में, उसे देखो, जैसे ही देखने में एकाग्रता होगी, सब शांत हो जाएगा। कल्पना, स्मृति और चिंतन से उत्तेजना प्राप्त होती है। केवल देखने से उत्तेजना शांत हो जाती है।

परिवर्तन का तीसरा सूत्र है—शुद्ध भावधारा। यह तीसरा उपाय सरल नहीं है। निरन्तर शुभ भावधारा बनी रहे, यह संभव नहीं है। भाव इतने विचित्र प्रकार के होते हैं कि आदमी समझ ही नहीं पाता।

एक भाई ने कहा—मुझे पसन्द नहीं है कि अमुक केन्द्र पर ध्यान करो, अमुक रंग का ध्यान करो। मैं आत्मा को देखना चाहता हूं।

मैंने कहा—तुम्हारी बात सही है। तुम सीधा आत्मा को देखना चाहते हो। कौन चाहेगा शरीर और श्वास को देखना। सब आत्म साक्षात्कार चाहते हैं। पर यह सीधी बात नहीं है। हमें एक-एक सोपान चढ़ना होगा। भावधारा शुद्ध रहे—यह बहुत अच्छा उपाय है किंतु भावधारा का प्रश्न इतना सहज-सरल नहीं है। भीतर में जितनी प्रतिक्रियाएं होती हैं, उनको संभालना बहुत जरूरी है। उनके लिए अनेक आलम्बन निर्दिष्ट हैं। उन आलम्बनों के द्वारा हम इस स्थिति तक पहुंच जाते हैं कि हमारे मस्तिष्क में निरन्तर शुद्ध भावधारा प्रवाहित होती रहे, शुद्धभाव उपजते रहें। आलंबनों का सहारा बहुत मूल्यवान है। यही ध्यान की वास्तविक स्थिति है। हमें उस स्थिति तक पहुंचना है जहां अपवित्र भाव की तरंग पैदा ही न हो। हमारा लक्ष्य यही है। लक्ष्य प्राप्त कर लेने पर वे आलम्बन छूट जाते हैं, जैसे तट पर आकर नौकाएं त्यक्त हो जाती हैं।

परिवर्तन का चौथा साधन है तपस्या का। इसका सामान्य अर्थ है—सहिष्णुता की शक्ति का विकास। आज भारत में दो समस्याएं शीर्षस्थ हैं। गरीबी और लाचारी। ये यथार्थ की समस्याएं हैं। इनका सबसे बड़ा कारण है—असहिष्णुता। आदमी श्रम करना नहीं जानता, कष्ट सहना नहीं जानता। जो श्रम नहीं करता, वह विकास नहीं कर सकता। कोई भी समाज या राष्ट्र, जो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

श्रम करने और कष्ट कहने से कतराता है, वह प्रगति नहीं कर सकता।

तपस्या का अर्थ है—कष्टों को सहने की क्षमता का विकास। जब व्यक्ति प्रत्येक स्थिति और परिस्थिति को झेलने में सक्षम होता है तब परिवर्तन होने लगता है।

परिवर्तन के ये चार माध्यम—स्वाध्याय, ध्यान, भाव-विशुद्धि और तपस्या—दमन के मार्ग नही हैं, ये है शोधन और रेचन में दिशासूचक यंत्र। इनके द्वारा वृत्तियों का शोधन होता है। जब वृत्तियां परिष्कृत होती हैं तब जीवन की धारा ही बदल जाती है।

मस्तिष्क की नियंत्रण शक्ति के विकास ये चार साधन हैं। ये सारे साधन ध्यान की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। इनमें से एक साधन—'ध्यान' केन्द्र बन जाता है और शेष तीन साधन परिधि में आते हैं। ध्यान को केन्द्र में रखकर यदि हम जीवन की मीमांसा करें तो मुझे लगता है कि हमारा सांसारिक या व्यावसायिक जीवन भी बहुत उन्नत हो सकता है। हिन्दुस्तान और जापान की स्थिति में इतना बड़ा अन्तर क्यों है? जापान भारत की अपेक्षा बहुत छोटा राष्ट्र है पर वह कहां का कहां पहुंच गया है। उसने जो विकास किया है, वह स्वयं एक आश्चर्य है। भारत इतना बड़ा राष्ट्र होने पर भी क्यों पिछड़ गया? इसका एक कारण है दृष्टिकोण या दर्शन की विपन्नता।

आचार्यश्री ने एक बार एक जापानी अधिकारी से पूछा—क्या आप लोग ध्यान करते हैं? उसने कहा—जापान के निवासी यदि ध्यान छोड़ दें तो वे जी नहीं सकते। आज उनमें जो एकाग्रता का विकास हुआ है, कर्मठता और सहनशीलता आयी है, उन सबकी पृष्ठभूमि में ध्यान ही कार्य कर रहा है। आज जापान में जो झेन संप्रदाय चल रहा है, वह ध्यान का ही संप्रदाय है। उसका प्रभाव सैनिकों एवं मजदूरों पर अधिक है इसीलिए हमारे देश का मजदूर इतना कर्मठ, श्रमशील और सहिष्णु है कि वह कभी उत्तेजित नहीं होता, श्रम से जी नहीं चुराता, राष्ट्र को हानि नहीं पहुंचाता।

जीवनगत इस परिवर्तन के पीछे ध्यान की कहानी है। हमें आज पुनः समग्रता से सोचना है और ध्यान का सही मूल्यांकन करना है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन

दो शब्द बहुत प्रचलित हैं—मूर्ख और मूढ़। सामान्यतः दोनों को पर्यायवाची माना जाता है, किन्तु वस्तुतः ये पर्यायवाची नहीं हैं। इन दोनों की अभिव्यंजना में बहुत अन्तर है। मूर्ख वह होता है जिसमें जानने-समझने की क्षमता कम होती है। मूढ़ वह होता है जो पढ़ा-लिखा होने पर भी मूर्च्छा से ग्रस्त होता है। वह जानते-समझते हुए भी विष पी लेता है, आत्महत्या कर लेता है।

आदमी अनजान में बुरे आचरण नहीं करता, वह जानबूझकर करता है। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जो अनजान में बुराई करते हैं। अधिकांश लोग जानकर ही बुरे आचरण करते हैं। इसका कारण मूर्खता नहीं, मूढ़ता है।

हमारे व्यक्तित्व की दो धाराएं हैं। एक है चेतना की धारा और दूसरी है जागृति की धारा। चेतना की धारा का अवरोधक है अज्ञान, मूर्खता और जागृति की धारा का अवरोधक है मोह, मूर्च्छा, मूढ़ता। बहुत बार प्रश्न होता है कि आज शिक्षा का इतना विकास हुआ है, पर बुराइयां प्रतिदिन क्यों बढ़ती जा रही हैं? पढ़ा-लिखा आदमी असत आचरण क्यों करता है? कथनी और करनी में अन्तर क्यों है? ज्ञान और आचरण में दूरी क्यों है? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण लगता है, पर वास्तव में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान का सीधा संबंध आचरण से नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति आचारवान हो ही, यह आवश्यक नहीं है। आचारवान ज्ञानी हो ही, यह भी आवश्यक नहीं है। ये दो धाराएं हैं। कर्मशास्त्र में दो शब्द हैं। एक है ज्ञानावरण कर्म और दूसरा है मोहकर्म। ज्ञानावरण कर्म का कार्य है ज्ञान को आवृत करना और मोहकर्म का काम है मूर्च्छा पैदा करना, विकार पैदा करना, मूढ़ता पैदा करना। यह कर्म दृष्टि का विकार और चारित्र का विकार—दोनों को पैदा करता है। आवश्यकता है कि मोह के स्थान पर 'अमोह' हो और ज्ञानावरण के स्थान पर ज्ञान का विकास हो। आज की परिस्थिति में ज्ञान का विकास बहुत हो रहा है, बौद्धिक विकास चरम को छू रहा है। आज जितनी विद्याएं हैं, जितने अध्यापक और विद्यार्थी हैं, उतने प्राचीन-काल में नहीं थे। आज शिक्षा-संस्थान बहुत हैं, पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले भी बहुत हैं। इतना होने पर भी आदमी का आचरण अप्रभावित है। इसका कारण है कि मूर्खता मिटी है, मूढ़ता ज्यों की त्यों विद्यमान है। विद्यालय का काम तो मूर्खता को मिटाना ही है। उसका कार्य मूढ़ता को मिटाने का नहीं है। हमें यह स्पष्ट बोध होना चाहिए कि मूर्खता मिट जाने पर भी मूढ़ता नहीं मिटती। बौद्धिक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विकास हो जाने पर भी मूढ़ता नहीं मिटती। मूढ़ता मिटती है भावानात्मक विकास से। आज अपेक्षा है कि ज्ञान और आचरण की दूरी मिटे। इसके लिए अत्यन्त आवश्यक यह है कि बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास का संतुलन हो। दोनों का संतुलित विकास होना चाहिए। एक बहुत पढ़ा-लिखा आदमी घर में कलह करता है, समाज में कलह के बीज बोता है, गालियां बकता है, कुछ भी सहन नहीं कर सकता, स्वयं बेचैन होता है और दूसरों को बेचैन बना देता है। ऐसा क्यों होता है? वह मूर्ख तो नहीं है। वह विद्यावान है पर उसमें मोह की इतनी प्रबलता है, अंहकार और ममकार इतना तीव्र है कि वह स्वयं दुःखी रहता है और दूसरों को दुःखी कर देता है। भावनात्मक विकास के द्वारा यह स्थिति बदल सकती है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में मस्तिष्क संबंधी अनेक तथ्य प्रतिपादित हैं पर वहां ग्रन्थितंत्र के विषय में कोई बात नहीं कही गई है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव हमारे भावों को कैसे प्रभावित करते हैं? वे बीमारियों के लिए कितने उत्तरदायी हैं? आदि विषयों पर प्राचीन ग्रन्थों में कोई जानकारी नहीं मिलती। आज के मेडीकल साइंस में इन सबका पर्याप्त विश्लेषण प्राप्त होता है। यह नई खोज है और आज भी यह खोज आगे से आगे चल रही है। ग्रंथितंत्र के स्रावों के विश्लेषण से हमारे उतरते-चढ़ते भावों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ग्रन्थितंत्र और भावनाओं का गहरा संबंध है। कुछ व्यक्तियों का ग्रंथितंत्र संतुलित रूप में काम करता है और कुछ व्यक्तियों में वह असंतुलित होता है। एक ग्रंथि अधिक स्राव करती है और दूसरी ग्रंथि कम स्राव करती है। किसी व्यक्ति में कोई ग्रंन्थि काम करती है और किसी में कोई। कुछ व्यक्तियों की पिनियल ग्लैण्ड अधिक सक्रिय होती है और कुछ व्यक्तियों की एड्रीनल ग्लैंड अधिक सक्रिय होती है। जिस व्यक्ति में द्वेष, तनाव, आवेश अधिक हैं तो यह स्पष्ट है कि उसकी एड्रीनल अधिक सक्रिय है। जिस व्यक्ति में शीघ्र निर्णय की क्षमता है, जो अन्तर् प्रज्ञा से देखता है, जो गहराई में जाता है तो मानना चाहिए कि उसकी पिच्यूटरी ग्लैंड अच्छा काम कर रही है। जिस व्यक्ति का काम उद्दीप्त है, कामवासना सक्रिय है, निरंतर काम का तनाव बना रहता है तो समझा जा सकता है कि गोनाड्स ज्यादा काम कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर् है। यह अंतर् ग्रंथियों के स्रावों क असंतुलन और संतुलन से पैदा होता है।

प्रश्न होता है कि क्या संतुलन प्राप्त किया जा सकता है? संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है? इसका उत्तर 'हां' में दिया जा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सकता है। प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया ग्रंथियों के स्रावों को संतुलित और परिष्कृत करने की प्रक्रिया है। ग्रन्थियों के जो स्राव आते हैं, वे एक प्रकार के नहीं होते। संभवतः मेडिकल साइंस में इसका कारण अभी तक ज्ञात नहीं है, किन्तु कर्म साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यह बात स्पष्ट है कि सूक्ष्म शरीर में, सूक्ष्म चेतना में जिस भावधारा के स्पन्दन होते हैं वे अपने समतुल्य स्पन्दन पैदा करते हैं और उसी प्रकार के भाव बन जाते हैं। वे भाव स्राव को नियंत्रित करते हैं। हमारे मस्तिष्क का भाग 'हाइपोथेलेमस' भावना के प्रति बहुत संवेदनशील होता है। वह भावना को बहुत जल्दी पकड़ता है। भावना प्रभावित करती है हाइपोथेलेमस को और वह प्रभावित करता है हारमोन्स को और ग्रंथियों को। फिर हमारे भाव प्रभावित होते हैं। भावनात्मक विकास का मूल आधार है हमारी भावधारा। प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग केवल श्वास, शरीर आदि को देखने का प्रयोग नहीं है, यह तो मात्र आलंबन है, माध्यम है। यह ऐसी भावधारा का प्रयोग है, जो सम है। न राग और न द्वेष, न प्रियता और न अप्रियता—इन दोनों से बचकर शुद्ध चेतना का उपयोग, शुद्ध चेतना की प्रवृत्ति—यही है समता। जब यह प्रवृत्ति होती है तब हमारा सारा तंत्र प्रभावित होता है। जब तक आदमी भावधारा और ग्रन्थितंत्र के रसायनों का परिष्कार करने की चेष्टा नहीं करेगा, तब तक ज्ञान बहुत बढ़ जाने पर भी मानसिक समस्याओं का समाधान नहीं हो पाएगा। मानसिक कठिनाइयां और दुःख कम नहीं होगा, उलझनें कम नहीं होंगी। समाज ज्ञान की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व देता है। आज चरित्र का ह्रास भले ही हुआ हो, पर आज भी आदमी चरित्र को महत्त्व देता है। सभी दुकानों पर यही लिखा मिलेगा, 'यहां शुद्ध वस्तु मिलती है।' किसी भी दुकान पर यह बोर्ड नहीं मिलेगा कि 'यहां अशुद्ध पदार्थ बेचे जाते हैं।' आदमी कितना ही मिलावटी माल बेचे, पर बोर्ड पर विशुद्ध का ही अंकन करेगा। सेठ कितना ही बेइमान और अप्रामाणिक क्यों न हो, वह चाहेगा यही कि उसे ईमानदार और प्रामाणिक नौकर मिले। कोई भी व्यक्ति बेइमान नौकर को नहीं चाहेगा।

कहा गया—'नाणस्य सारं आयारो'—ज्ञान का सार है आचरण। ज्ञान की निष्पत्ति है आचार, आचरण। ज्ञान का अपने आप में कोई उपयोग नहीं होता। उसकी निष्पत्ति समाज में आती है ज्ञान के द्वारा। आदमी समाज को कैसे बदलता है, समाज के प्रति कैसा व्यवहार करता है, यह है ज्ञान की निष्पत्ति। आज समस्या यह है कि हमारे पास ज्ञान की कसौटी तो है, पर आचरण की कोई कसौटी नहीं है। ज्ञान की परीक्षा होती है। उसके मानदंड हैं पर आचरण के लिए कोई मानदंड नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि चरित्र का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ह्रास होता है, आचरण का ह्रास होता है तो हमें कष्ट क्यों होना चाहिए। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि वर्तमान सामाजिक मूल्यों और वैयक्तिक मूल्यों में यदि चरित्र का ह्रास होता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि ह्रास नहीं होता है तो आश्चर्य है। क्योंकि हमारे पास भावनात्मक विकास की मूढ़ता को मिटाने की कोई प्रक्रिया नहीं है। प्रत्येक सरकार यह चाहती है कि उसके राष्ट्र का कोई भी सदस्य निरक्षर न रहे, सब साक्षर हो जाएं। साक्षरता के लिए तीव्र अभियान चल रहे हैं। मैं बौद्धिकता को व्यर्थ नहीं मानता, वह चेतना के विकास की एक भूमिका है। यह बहुत आवश्यक भी है, किन्तु केवल बौद्धिकता खतरा पैदा करती है। उसके साथ यदि भावनात्मक विकास होता है तो वह वरदान बन जाती है। केवल बौद्धिक विकास से आदमी अपने आवेशों, आवेगों और चरित्र में विकृति पैदा करने वाले तत्त्वों पर नियंत्रण नहीं कर सकता, इसलिए वह बौद्धिकता अभिशाप बन जाती है। अमृत विष बन सकता है और विष अमृत बन सकता है। दोनों सापेक्ष हैं। इस दुनिया में एकान्ततः न कुछ भी अमृत है और न कुछ भी विष है। मात्रा के अतिरेक में अमृत विष का काम करता है और मात्रा के संतुलन में विष अमृत का काम करता है।

प्राचीन काल का बहुचर्चित एक प्रश्न है—'मैं कौन हूं?' आज इसके स्थान पर यह पूछा जाना चाहिए—'मैं कहां हूं?' 'मेरी चेतना कहां है?' सम्पूर्ण खोज के पश्चात आज यह प्रतीत हो रहा है कि मनुष्य की चेतना अधोगामी हुई है। उसकी चेतना नाभि के आस-पास परिक्रमा कर रही है, इसीलिए उसकी अपराधी मनोवृत्ति को सहारा मिल रहा है और प्रतिदिन नए-नए अपराध सामने आ रहे हैं। प्राचीन साहित्य में, अध्यात्म योग साहित्य में नाभि को अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना है। यह प्राण ऊर्जा का निधि-क्षेत्र है। आज शारीरिक विज्ञान से इसे 'एड्रीनल' कहा गया है। यही अपराधों का मूल-केन्द्र है। यदि आदमी की चेतना यहीं स्थित रही, भावनात्मक परिष्कार घटित नहीं हुआ तो जागतिक वातावरण और अधिक विकृत होगा।

आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि व्यक्ति भावनात्मक विकास की प्रक्रिया को अपनाए। प्रेक्षा-ध्यान परिष्कार की अचूक प्रक्रिया का एक अंग है—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह भावनात्मक परिष्कार की अचूक प्रक्रिया है। हमारे शरीर में अनेक मैग्नेटिक फील्ड हैं, चुम्बकीय क्षेत्र हैं। वे रसायनों से प्रभावित होते हैं। वहां हमारी चेतना और हमारी वृत्तियां प्रकट होती हैं। जब हमारा भाव अशुद्ध होता है तो ग्रन्थियों के स्राव भी खराब होते हैं। मनुष्य का चिन्तन और आचरण जैसा होता है, वैसे ही ग्रंथियों के स्राव होते हैं। ग्रन्थियों को प्रभावित

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

करने वाले तीन तथ्य हैं—चिन्तन, प्रवृत्ति और संवेदन। यदि आदमी का चिन्तन, प्रवृत्ति और संवेदन अच्छा होता है तो ग्रन्थियों का स्राव भी अच्छा होता है। एक वैज्ञानिक ने सुन्दर लिखा था—वी आर नाइस टुडे एण्ड दे आर नाइस टुमारो (We are nice today and they are nice tomorrow) यदि हम ग्रन्थियों के प्रति अच्छा व्यवहार करते हैं तो ग्रन्थियां हमारे प्रति अच्छा व्यवहार करेंगी। यदि हम बुरे विचार या बुरी प्रवृत्तियां करते हैं, ग्रन्थियों के स्राव भी खराब होते हैं और व्यक्ति अपराधी मनोवृत्ति वाला हो जाता है। स्मगलिंग करने वाला अपनी पिच्यूटरी ग्रन्थि पर बहुत बुरा प्रभाव डालता है। शराबी व्यक्ति अपनी एड्रीनल ग्रन्थि पर उतनी ही अधिक सक्रिय होगा। शराब, तम्बाकू आदि का निषेध केवल उनसे होने वाले शारीरिक हानियों के कारण ही नहीं किया गया था। इनसे शरीर तो विकृत होता ही है, ये हमारी चेतना को भी विकृत करते हैं। इनसे हमारा सारा भावतंत्र गड़बड़ा जाता है। जब शराब और तम्बाकू का लम्बे समय तक निरंतर सेवन किया जाता है तब उनकी मांग स्नायविक हो जाती है। उस स्थिति में मनुष्य परवश बन जाता है। ये सारे व्यसन चेतना को भ्रांत और विकृत बनाते हैं। एक व्यसन अनेक बुराइयों को निमंत्रित करता है। मादक वस्तुओं के सेवन की बात आ जाती है तो समझ लेना चाहिए कि बिगड़ने का पहला द्वार खुल गया। आज विद्या-संस्थानों के परिसर में मादक वस्तुओं का प्रयोग धड़ल्ले के साथ चल रहा है। उसकी हानियों को जानते-समझते हुए भी विद्यार्थी उसका आसेवन बढ़ाते जा रहे हैं। परिणाम सब जानते हैं। जानने की क्षमताएं और साधन बढ़े हैं। ज्यों-ज्यों विद्या बढ़ेगी, जानकारी बढ़ेगी ही। तर्क सूक्ष्मतर होता जाएगा और तब बुराई को प्रस्थापित करने में तर्क सहयोगी बन जाएगा। ऐसी स्थिति में बुराइयों के परिहार की बात दुरूह बन जाती है।

इन बुराइयों से बचने का एकमात्र उपाय है—बौद्धिक-विकास के साथ-साथ भावनात्मक विकास का उद्भावन, मूर्खता के उन्मूलन के साथ-साथ मूढ़ता का भी उन्मूलन। हम यह चाहें कि ज्ञान का विकास भी हो और चरित्र का विकास भी हो। इस स्थिति में ही शांति और सुख का अनुभव कर सकेंगे, समाज और राष्ट्र तभी सुखी हो सकेगा। इस स्थिति का निर्माण करने के लिए भावनात्मक विकास जरूरी है। यह घटित हो सकता है ध्यान के द्वारा। ध्यान के पुष्ट अभ्यास के द्वारा हम भावधारा को पवित्र बना सकते हैं और विद्युत प्रवाह, प्राण-प्रवाह तथा रासायनिक स्रावों को प्रभावित कर सकते हैं। यदि ऐसा होता है तो सुखी परिवार और सुखी समाज का निर्माण सहज हो जाता है। यही हमारी समस्या के समाधान का एकमात्र उपाय है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विधायक दृष्टिकोण

हम ऐसी स्थिति में जी रहे हैं, जहां समस्या का उत्पन्न होना अनिवार्य है। समाधान की खोज चलती है, पर समस्या की अनिवार्यता को टाला नहीं जा सकता।

हम दो विरोधी तत्त्वों को साथ लिए चल रहे हैं। एक है हमारी चेतना और दूसरा है हमारा शरीर। वह अचेतन है। चेतन और अचेतन—दोनों को साथ लिए चलना अपने आप में एक समस्या है। यह समस्या और अनेक समस्याएं पैदा करती हैं।

सभी लोग सफलता का जीवन जीना चाहते हैं। कोई भी व्यक्ति असफल रहकर जीना नहीं चाहता। सफल जीवन के लिए यह आवश्यक है कि दृष्टिकोण सही रहे, विधायक रहे, सृजनात्मक और रचनात्मक रहे। नकारात्मक दृष्टिकोण निराशा, संवेग, भय, चिंता पैदा करता है। ये सारी प्रवृत्तियां मनुष्य को बहुत पीड़ित करती हैं। यदि हम एकांत में बैठकर अपना विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि हम जिसको शत्रु मानते हैं, वह भी उतना नहीं सताता, जितना सताता है हमारा नकारात्मक दृष्टिकोण, निषेधात्मक भाव। सचाई तो यह है कि कोई भी व्यक्ति हमें दुःख नहीं दे सकता, यदि हमारा दृष्टिकोण निषेधात्मक न हो तो। कोई भी व्यक्ति हमें तभी दुःखी बना सकता है, पीड़ित कर सकता है, जब हमारा दृष्टिकोण निषेधात्मक होता है।

विश्व विजेता सिकन्दर भारत से एक साधु को यूनान ले जाना चाहता था। भारत पर विजय प्राप्त कर वह अपने देश लौटने लगा। एक साधु से कहा—'चलो, मेरे देश में।' साधु ने कहा—'मैं क्यों चलूं? मैं नहीं चलता।'

'जानते हो मैं कौन हूं?'

'हां जानता हूं, तुम एक मानव हो।'

'मैं विश्व विजेता सिकन्दर हूं।'

'अच्छा! तो मुझे क्या?'

'मेरी आज्ञा की अवहेलना करने का पुरस्कार है—मृत्यु। मेरी एक वक्रदृष्टि से सारा संसार कांप उठता है। तुम चलने से इन्कार कर रहे हो?'

'तुम पागलपन की बात कर रहे हो। मुझे मौत नहीं डरा सकती। मैंने उस पर विजय प्राप्त कर ली है।'

सम्राट सिकन्दर साधु को देखता रह गया। उसका अभय, उसकी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

निश्छलता, उसकी स्पष्टवादिता ने सिकन्दर को चरणों में लेटने के लिए विवश कर डाला।

जिसका दृष्टिकोण विधायक होता है, दुनिया की कोई शक्ति उसे विचलित नहीं कर सकती।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से पूछा—'तुम धर्म प्रचार के लिए जा रहे हो। कोई गालियां देगा तब क्या करोगे।'

'हम सोचेंगे गालियां ही दीं, पीटा तो नहीं!'

'यदि कोई पीटेगा तब क्या करोगे?'

'हम सोचेंगे, पीटा ही है, प्राणों से तो नहीं मारा।'

'कोई तुम्हें मारेगा, तब क्या करोगे?'

'उन्होंने हमारे प्राण ही तो लूटे, हमारा धर्म तो नहीं लूटा।'

'भगवान बुद्ध ने कहा—'तुम धर्म प्रचार के योग्य हो।'

ऐसे व्यक्तियों को कौन दुःखी बना सकता है?

जिसका दृष्टिकोण विधायक (पोजिटीव) होता है, उस व्यक्ति को दुःखी बनाने का दुनिया की किसी भी शक्ति और सत्ता के पास कोई उपाय नहीं है। यह सचाई ज्ञात हो जानी चाहिए कि जीवन की सफलता और विफलता, सुख और दुःख, शांति और अशांति—यह सब व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर है। यदि दृष्टिकोण निषेधात्मक होता है तो जीवन का कृष्ण-पक्ष उभर कर सामने आ जाता है और यदि दृष्टिकोण विधायक होता है तो जीवन का शुक्लपक्ष सामने आ जाता है।

साधना का प्रयोजन है—जीवन के दृष्टिकोण को विधायक बनाना। यही साधना का परम उद्देश्य है। परन्तु दृष्टिकोण विधायक कैसे बने—यह प्रश्न है। आज आदमी का दृष्टिकोण भौतिकवादी बना हुआ है। भौतिकवादी दृष्टिकोण का अर्थ है—पदार्थवादी दृष्टिकोण। यह सच है कि जब तक शरीर है तब तक पदार्थों को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता। आदमी विरोधी जीवन जी रहा है, द्वंद्वात्मक जीवन जी रहा है। पदार्थ को न संन्यासी छोड़ सकता है और न वीतराग अवस्था तक पहुंचा हुआ ही छोड़ सकता है। क्योंकि जब तक खाना पीना है, सर्दी गर्मी से बचना है तब तक पदार्थों को छोड़ा नहीं जा सकता। दूसरी बात है कि पदार्थ को क्यों छोड़ा जाए? वह हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं करता। हमारा तब अनिष्ट होता है जब हम पदार्थवादी बन जाते हैं। पदार्थों का होना, पदार्थों का उपयोग करना और पदार्थवादी होना—ये दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। पदार्थ का उपयोग है और वह उपयोग सर्वसम्मत है, असम्मत नहीं है, यह एक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बात है और पदार्थवादी बन जाना, यह दूसरी बात है।

मकान में रहना बुरा नहीं है किन्तु दिमाग में मकान का रहना, पदार्थवादी वृत्ति है। पदार्थों का उपयोग करना पदार्थवादी दृष्टिकोण नहीं है। भौतिक उपकरणों का स्वीकरण और उपयोग तथा आवश्यकता की संपूर्ति करना भौतिकवादी दृष्टि नहीं है। भौतिकवादी दृष्टि है—दिमाग में पदार्थ का रहना।

आज की स्थिति का विश्लेषण करने पर स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि समाज में पदार्थवादी दृष्टिकोण बहुत प्रबल हो गया है। यह प्रत्यक्ष उदाहरण है—दो भाई एक साथ व्यवसाय करते हैं। एक भाई सारा कारोबार देखता है और दूसरा निश्चितता से जीवन बिताता है। उसे भाई पर पूरा भरोसा है। पांच-सात वर्ष बीतते हैं और निश्चित रहने वाले भाई को भिखारी बनने की नौबत आ जाती है। वह धोखा खा जाता है। कारण है कि कारोबार देखने वाले भाई को भाई का संबंध मुख्य नहीं लगता, उसे मुख्य लगता है पदार्थ, धन, सम्पत्ति। भाई भाई के, पिता पुत्र के, पति पत्नी के मानवीय संबंधों में जो तनाव आया है, विसंगति आई है, उसका मूल कारण है, पदार्थवादी दृष्टिकोण। इसी दृष्टिकोण के कारण सगे-संबंधियों से या पारिवारिक जनों से क्रूरतापूर्ण व्यवहार होता है और आज वह चरम-बिन्दु तक पहुंच चुका है।

भौतिकवादी दृष्टि की पहली निष्पत्ति है—चैतन्य की उपेक्षा। यह कभी संभव नहीं है कि पदार्थवादी दृष्टिकोण हो और चैतन्य की उपेक्षा न हो। आज चैतन्य गौण है और पदार्थ मुख्य है, संबंध गौण है और धन मुख्य है। यही चैतन्य के प्रति उपेक्षा है।

आज व्यक्ति और समाज के सामने केवल ओब्जेक्ट है। सब्जेक्ट को भुला दिया गया है। उसको भूले बिना यह स्थिति बन नहीं सकती। जब तक चैतन्य रहता है तब तक निषेधात्मक दृष्टिकोण नहीं बन सकता। जब चैतन्य का तिरोभाव होता है, तभी निषेधात्मक दृष्टिकोण पनपता है।

पदार्थवादी दृष्टिकोण में संदेह पनपता है। चैतन्यवादी दृष्टिकोण में संदेह को कोई स्थान ही नहीं रहता। जब संदेह होता है, भय होता है, अविश्वास होता है तब संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। परस्पर में शत्रुता का भाव बढ़ जाता है, लड़ाइयां प्रारम्भ हो जाती हैं। यह सारी नकारात्मक प्रवृत्तियों की श्रृंखला है और यह पदार्थवादी दृष्टिकोण की देन है। पदार्थवादी दृष्टिकोण और पदार्थ का उपयोग या उपभोग—ये दो हैं, एक नहीं है। हम इन्हें एक ही दृष्टि से देखते हैं, इसलिए इन दोनों में भेद नहीं कर पाते। सचमुच इनमें भेद करना चाहिए। पदार्थ का उपयोग बुरा नहीं है। पदार्थ का उपयोग यथार्थ है, आवश्यक है, इसे झुठलाया

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नहीं जा सकता। कुछ धार्मिक लोग इस बात पर ऐकान्तिक भार देते हैं कि पदार्थ का उपयोग गलत है, बुरा है। यह दृष्टिकोण स्वयं भ्रांत है। यह एकांगी दृष्टिकोण है, सर्वांगीण नहीं। क्या हमारा जीवन केवल अध्यात्म से चल पाएगा? यथार्थ की तीन समस्याएं हैं—रोटी की समस्या, भूख की समस्या और वस्त्र की समस्या। क्या धर्म और अध्यात्म इनका समाधान कर पाएगा? अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से यह संभव नहीं कि समस्याओं का समाधान हो सके। इस समाधान के लिए दोनों आवश्यक हैं—अध्यात्म विकास और भौतिक विकास। पदार्थ-विकास की अनिवार्यता और पदार्थवादी दृष्टिकोण —बिलकुल दो धाराएं हैं। समस्या वहां उत्पन्न होती है जहां दृष्टिकोण पदार्थवादी बन जाता है।

आज के विज्ञान की यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसमें द्रष्टा, ज्ञाता या सब्जेक्ट की उपेक्षा है। दृश्य और पदार्थ के प्रति उसका अधिक लगाव है। सारा विकास पदार्थ से नापा जाता है। यही तो कारण है कि आज के शिक्षा संस्थानों में उन्हीं विद्याओं को प्राथमिकता प्राप्त है, जो पदार्थ-विकास में सहायभूत होती हैं। उनमें चरित्र-विकास और चैतन्य-विकास का कोई स्थान नहीं है। ऐसा लगता है कि चैतन्य-विकास और पदार्थ-विकास—दोनों में आत्यंतिक विरोध है। ऐसा नहीं होना चाहिए। इसी का परिणाम है कि निषेधात्मक दृष्टिकोण पनपता जा रहा है। उस पर नियंत्रण पाना कठिन हो रहा है।

जीवन-विज्ञान की परिकल्पना इसीलिए की गई कि भौतिक या लौकिक विद्याओं के साथ-साथ एक विद्या यह भी जुड़नी चाहिए, जिससे चैतन्य का विकास हो, चरित्र का विकास हो। यह विद्या जुड़नी चाहिए, जिसके द्वारा चैतन्य के प्रति आदर-भाव बढ़ सके और चैतन्य का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सके।

सभी जानते हैं, आज दुनिया में सत्ता का मूल्य है, धन सम्पत्ति का मूल्य है, आदमी का कोई मूल्य नहीं है। आज उन लोगों की भी शिकायत है, जो धन का विरोध करते हैं, और उनकी भी शिकायत है, जो चैतन्य का विरोध करते हैं। आदमी का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य की बात तो दूर, आदमी को आदमी मानना भी मुश्किल हो रहा है। जो साधन-संपन्न है, वह आदमी माना जाता है और जो साधन विहीन है उसे आदमी मानने में ही हिचक होती है। हमारे मूल्यांकन का सारा आधार ही है—पदार्थ। इस स्थिति में यदि नकारात्मक दृष्टिकोण पनपता है, स्वार्थ-चेतना जागती है तो हमें आश्चर्य क्यों होना चाहिए?

प्रश्न है क्या इस दृष्टिकोण को बदला जा सकता है? क्या ऐसा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वातावरण निर्मित किया जा सकता है जहां चैतन्य प्रमुख रहे, आगे रहे या कम से कम चैतन्य और पदार्थ का संतुलन बना रहे? क्या ऐसी स्थिति बन सकती है जहां चैतन्य का भी स्थान रहे और पदार्थ का भी स्थान रहे, शरीर को भी स्थान मिले और चेतना को भी स्थान मिल? दोनों समन्वित होकर साथ चल सके, ऐसा होना असंभव नहीं है।

पहले धर्म और अध्यात्म का प्रयत्न इसी दिशा में शुरू हुआ था। यह होता है, समय बीतते-बीतते आग पर इतनी राख छा जाती है कि आग का अस्तित्व बुझा हुआ सा लगता है। हम पुरुषार्थवादी हैं। हमारा प्रयत्न इस ओर होना चाहिए कि जब-जब आग पर राख आए तब-तब हमारे हाथ उस राख को हटाने में लगे। जीवन विज्ञान इसी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है।

एक साधक संत भक्त के घर पर भिक्षा लेने गए। हाथ में कमण्डलू था। भक्त ने प्रसन्नता व्यक्त की। महात्मा के लिए बहुविध भोजन बनाए हुए थे। भक्त ने कहा—महात्मन! भिक्षा लें। महात्मा ने उसे कमण्डलू देते हुए कहा—इसमें भिक्षा भर दो। उसने कहा—कमण्डलू तो गोबर से भरा पड़ा है। मेरी सारी वस्तुएं खराब हो जाएंगी। महात्मा ने कहा—धोकर साफ कर दे, फिर इसमें डाल देना। उसने पानी से कमण्डलू धो डाला। वह स्वच्छ हो गया। महात्मा ने कहा—वत्स! जैसे तूने कमण्डलू का गोबर साफ किया है, वैसे ही तू अपने मन से गोबर निकाल कर उसे स्वच्छ कर डाल।

कमण्डलू को साफ किया जा सकता है। मन को भी स्वच्छ किया जा सकता है। कल भी संभावना थी, आज भी है और आगे भी संभावना बनी रहेगी।

हमारे भीतर दो क्षमताएं विद्यमान हैं। एक है ज्ञान के विकास की क्षमता और दूसरी है चरित्र के विकास की क्षमता। एक है ज्ञान-चेतना की क्षमता और दूसरी है चरित्र-चेतना की क्षमता। इन दोनों क्षमताओं को विकसित करने का अर्थ है—जीवन-विज्ञान। केवल ज्ञान की क्षमता विकसित हो जाए और चरित्र की क्षमता सुषुप्त रह जाए—यह वांछनीय नहीं है। दोनों का विकास अपेक्षित है। हमारे शरीर तंत्र का भी यही नियम है। नाड़ी-संस्थान यानी मस्तिष्क विकास हो तो साथ-साथ ग्रंथितंत्र भी विकसित हो, संतुलित हो। जब दोनों का विकास होता है तब चरित्र को भी बल मिलता है और ज्ञान को भी बल मिलता है। ज्ञान से चरित्र का विकास होता है और चरित्र से ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान पढ़ने से आता है, पर कम आता है। जितना ज्ञान चरित्र से आता है, उतना पढ़ने से नहीं आता। आज के वातावरण में ये बात अटपटी लग सकती है, किन्तु यह सही है और अनुभवसिद्ध है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पुस्तकीय अध्ययन मात्र से ज्ञान का विकास नहीं होता। वह होता है प्रज्ञा से, इन्ट्यूशन से। जब हमारी अन्तर् प्रज्ञा जागती है, इन्ट्यूशन जागता है तब ज्ञान पानी में पड़ी तेल की बूंद की तरह विस्तार पा लेता है। ज्ञान की जो सहज क्षमता है, उसे जागने का अवसर मिल जाता है। ज्ञान की बड़ी विचित्रताएं हैं। एक अक्षर के आधार पर सारा ग्रन्थ जान लिया जाता है। ग्रन्थ के एक पद के आधार पर पूरे ग्रन्थ का ज्ञान कर लिया जाता है। योग-साधना की एक विशेष उपलब्धि का नाम है—पदानुसारिणी लब्धि।' इसका तात्पर्य है—एक पद के आधार पर पूरे ग्रन्थ का ज्ञान कर लेना। 'कोष्ठोपलब्धि' भी योगजन्य उपलब्धि है। इसके द्वारा एक बार जो स्मृत हो गया, वह फिर कभी विस्मृत नहीं हो सकता। जैसे कोठे में धान डाला जाता है और उसे अपनी इच्छानुसार निकाला जाता है, वैसे ही इस उपलब्धि से संपन्न व्यक्ति जब चाहे तब तत्त्व की स्मृति कर सकता है।

आदमी में अनन्त क्षमताएं हैं पर वह उनके बारे में अनजान है। उसकी सारी क्षमता पुस्तकों में भरी पड़ी है। पास में पुस्तक है तब तक ज्ञान और पुस्तक नहीं है तो ज्ञान भी नहीं है। जो व्यक्ति बाह्य पदार्थ की क्षमता में विश्वास करता है और अपनी क्षमता में विश्वास नहीं करता वह सफलता का जीवन नहीं जी सकता। उसका दृष्टिकोण कभी विधायक नहीं बन सकता।

आइंस्टीन को सापेक्षवाद के सिद्धान्त की जानकारी चिन्तन से नहीं, इंट्यूशन से हुई थी। जितनी भी वैज्ञानिक महान उपलब्धियां हैं, वे सारी इंट्यूशन की अवस्था में मिली हैं। चिन्तन बाह्य होता है, इन्ट्यूशन आंतरिक होता है। सत्य का साक्षात्कार समाधि के क्षणों में होता है, फिर वह सत्य चाहे धर्म का हो, विज्ञान का हो या अन्य किसी क्षेत्र का। एकाग्रता सत्य के साक्षात्कार में सहायक होती है। आदमी मौन बैठा है। वह किसी एक बिन्दु पर एकाग्र होता है तो उसे अनुभव होता है कि ऊपर से कुछ 'अवतरण' हो रहा है। यह अवतारवाद है। भीतर में जब एक विशिष्ट प्रज्ञा का अवतरण होता है तब व्यक्ति 'अवतार' बन जाता है। यही सत्य की उपलब्धि है, साक्षात्कार है।

हम अपनी क्षमताओं को जानें और उनके प्रति जागरूक बनें। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी को पदार्थ की क्षमता का ज्ञान कराया जाता है। यदि इसके साथ ही साथ विद्यार्थी को अपनी स्वयं की क्षमताओं का ज्ञान भी कराया जा सके तो शिक्षा जगत का महत्त्वपूर्ण अवदान हो सकता है। जीवन-विज्ञान की यह नवीन शिक्षा-पद्धति इस दिशा में एक ठोस कदम है। जब व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का ज्ञान होता है तब उसका दृष्टिकोण बदल जाता है, चरित्र और व्यवहार बदल जाता है। सब कुछ बदल जाता है। आज रूपांतरण इसीलिए घटित

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नहीं हो रहा है कि आदमी को अपनी क्षमताओं का ज्ञान नहीं है। उसे पदार्थ की क्षमताओं का ज्ञान है और इसलिए वह उसी ओर संघर्षरत है, दौड़-धूप कर रहा है। आन्तरिक क्षमताओं के विकास के लिए कोई संघर्ष नहीं है, दौड़-धूप नहीं है। पदार्थ असीम नहीं हैं। वे सीमित हैं। भोक्तृ ज्यादा हैं, पदार्थ कम हैं—यह पदार्थ की प्रकृति है। जब भोक्तृ अधिक होते हैं और पदार्थ कम, तब संघर्ष होता है। किन्तु आंतरिक शक्ति के लिए उल्टा नियम है। हर व्यक्ति के पास असीम शक्ति है, इसलिए वहां संघर्ष या टकराहट की नौबत ही नहीं आती।

मुझे पता नहीं, शिक्षाशास्त्रियों ने इस ओर ध्यान क्यों नहीं दिया? शिक्षा का विकास केवल भौतिक विकास ही कैसे माना? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। आज की शिक्षा का फलित है बौद्धिक विकास और बौद्धिक विकास के सहारे पदार्थ का विकास। इसे अनुचित नहीं माना जा सकता। यह भी अनिवार्य है। किंतु इसके साथ-साथ चेतना का विकास भी अपेक्षित होता है। इसकी उपेक्षा क्यों की गई? यह अखरने वाली बात है।

जीवन-विज्ञान में इस बात पर बल दिया गया है कि भौतिक विकास के साथ आध्यात्मिक विकास भी हो। दोनों का संतुलन हो। मैं यह अनुभव के साथ कह सकता हूं कि लौकिक विद्याओं के अध्ययन में जितना समय और जितनी शक्ति लगती है, उसकी तुलना में पांच-दस प्रतिशत शक्ति भी यदि आंतरिक शक्तियों के विकास में लगे तो दोनों में संतुलन स्थापित हो सकता है। प्रत्येक स्कूल और कॉलेज में अन्यान्य पीरियडों के साथ एक पीरियड यदि विद्यार्थी की आंतरिक क्षमता के विकास के लिए लगाया जाए तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। इसका फलित होगा विधायक दृष्टिकोण का निर्माण। उस स्थिति में अपने आप समस्याओं के समाधान की प्रक्रिया और दृष्टि जागृत होगी।

भौतिकवादी दृष्टि के साथ अध्यात्मवादी दृष्टि भी बहुत आवश्यक है। अध्यात्म की दृष्टि का अर्थ है—भीतर में झांकने की दृष्टि। जब दृष्टिकोण आध्यात्मिक बनता है तब आदमी बाहर ही नहीं देखता, भीतर देखने लग जाता है। कोई भी स्थिति या समस्या आती है तब वह केवल दूसरे की ओर नहीं देखेगा, अपनी ओर भी देखेगा और विश्लेषण करेगा कि कहां क्या अनुचित है। आज व्यक्ति सर्वत्र दूसरे को ही देखता है, स्वयं को नहीं देखता। जब तक दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं होता तब तक व्यक्ति अपने आप से परिचित भी नहीं होता और भीतर झांकने या भीतर से समाधान खोजने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। हर समाधान बाहर खोजा जाता है और उसका परिणाम है दूसरे को देखना। इससे या तो हीनभावना पनपेगी अथवा अहंकार पनपेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अपने आप से परिचित होने का एकमात्र साधन है—आध्यात्मिक दृष्टिकोण। इसके अभाव में आंतरिक क्षमताओं का विकास नहीं होता।

एक व्यक्ति डेन्टिस्ट के पास गया। डाक्टर ने उसी दिन उसके एक साथ सत्ताइस दांत निकाल दिए। यह बात हमको अभी-अभी एक भाई ने सुनाई। विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि यही सुन रखा था कि दांत एक साथ नहीं निकाले जाते, प्रतिदिन एक या दो दांत निकाले जाते हैं। किंतु एक साथ सत्ताइस दांत निकाल देना डाक्टर का दुःसाहस ही माना जाएगा। पर ऐसा संभव तभी हो सकता है जब कार्यरत डाक्टर अपने अन्तःकरण से संबंध स्थापित करता है और पूर्ण मनोबल के साथ उस कार्य में जुट जाता है। जिस व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का परिचय हो जाता है तब वह असंभव लगने वाला कार्य भी संभव कर दिखाता है।

अपने भीतर झांकने की प्रक्रिया, अपनी शक्तियों से परिचित होने की प्रक्रिया, अपनी समस्याओं का भीतर से समाधान खोजने की प्रक्रिया—यही जीवन-विज्ञान की प्रक्रिया है। यदि यह प्रक्रिया हस्तगत हो जाती है तो आदमी के दोनों हाथ सक्षम हो जाते हैं। उसका भौतिकता का हाथ भी मजबूत हो जाता है और आध्यात्मिकता का हाथ भी मजबूत हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसे बाहर की समस्याओं को सुलझाने की शक्ति भी प्राप्त हो जाती है। उसके दोनों हाथ और दोनों पैर मजबूत बन जाते हैं। उसे तब लंगड़ाने की आवश्यकता नहीं रहती।

विधायक दृष्टिकोण के लिए जीवन-विज्ञान का यह उपक्रम एकमात्र उपाय है। यह बात आज समझ में आए, कल समझ में आए, आखिर इतनी समस्याओं और तनावों में जीता हुआ आदमी कभी न कभी इस सचाई का अनुभव करेगा, इस ओर कदम बढ़ायेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संबंधों का नया क्षितिज

ध्यान की निष्पत्ति है स्वभाव और व्यवहार का परिवर्तन। ध्यान करने वालों में यदि स्वभाव और व्यवहार का परिवर्तन नहीं होता है तो ध्यान एक विडंबना मात्र बन जाता है। ध्यान के द्वारा सामाजिक और मानवीय संबंधों में परिवर्तन आना चाहिए। मनुष्य का मनुष्य के साथ जो संबंध होता है, वह बदलना चाहिये। सामान्यतः हम यह अनुभव करते हैं कि एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य के प्रति जो करुणा होनी चाहिये, वह नहीं है। क्रूरता अधिक है, करुणा कम है। अक्षम व्यक्ति क्रूरता का प्रदर्शन नहीं कर सकता, किंतु थोड़ी-सी क्षमता आते ही वह अपने से छोटों के प्रति अत्यन्त क्रूर बन जाता है। यह प्रश्न चाहे फिर मिल मालिक और मजदूर का हो, स्वामी और सेवक का हो व्यवहार में जितनी मृदुता और करुणा होनी चाहिये, वह नहीं रह पाती। सब भूल जाते हैं कि मैं भी मानव हूं, वह भी मानव है। मैं भी चेतनावान हूं, वह भी सचेतन है। मेरा भी अस्तित्व है और उसका भी अस्तित्व है। मैं भी स्वतंत्र हूं, वह भी स्वतंत्र है। इस भूमिका को भूल जाते हैं। इस भूमिका के आधार पर परस्पर व्यवहार नहीं होता। व्यवहार होता है अहंभाव के आधार पर। बड़े व्यक्तियों का यह स्वभाव या सिद्धांत बना हुआ है, वे यह सोचते हैं कि यदि छोटों पर कड़ा अनुशासन नहीं किया जाएगा तो वे मानेंगे भी नहीं और कार्य भी नहीं करेंगे। अनुशासन करना उनके जीवन-व्यवहार का एक अभिन्न अंग बन गया। वे मानते हैं, अनुशास्ता में कठोर और नियंत्रण की क्षमता होनी चाहिये। उसमें सामने वाले को दबाने की शक्ति होनी चाहिये। इस वृत्ति और सिद्धांत के कारण क्रूरता पनपी और यह क्रूरता की समस्या ही आज बड़ी समस्या है। मनुष्य में करुणा का स्रोत सूख गया। एक आदमी दूसरी आदमी के प्रति करुणाशील नहीं है। यदि आदमी में करुणा होती तो वह अप्रामाणिक व्यवहार नहीं करता। वह कभी मिलावट नहीं करता। जितने भी भ्रष्टाचार चल रहे हैं, उनके पीछे क्रूरता बोलती है। करुणा का प्रवाह सूख जाने के कारण आदमी कुछ भी करने से नहीं हिचकता। करुणा के स्रोत के सूखने का कारण है—लोभ। जब लोभ प्रबल होता है करुणा नीचे दब जाती है। लोभ का व्याप इतना प्रबल है कि वह सब कुछ सुखा डालता है। ज्यों-ज्यों यह बढ़ता है, करुणा का पानी अल्प, अल्पतम होता है।

आज स्वार्थ बढ़ रहा है। हर आदमी अपनी रोटी के नीचे अंगारा देना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चाहता है, अपनी रोटी सेकना चाहता है। यह सारा लोभ के कारण होता है। मनोविज्ञान के अनुसार प्राणी के जीवन-केन्द्र में लोभ है या काम है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से भी जीवन-केन्द्र में लोभ ही है। विकास-क्रम की भूमिका में प्रतिपादित है कि पहले क्रोध निरस्त होता है, फिर अहंकार और माया। पर लोभ बचा रहता है। भारतीय दर्शन में प्रयुक्त शब्द वीतराग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वीतद्वेष नहीं, वीतराग। प्रश्न होता है वीतराग क्यों, वीतद्वेष क्यों नहीं? जबकि राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं, दोनों को नष्ट करना है तो फिर एक वीतराग शब्द ही क्यों? कहना चाहिए था—वीतराग वीतद्वेष। इस चिंतन की भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि बेचारा द्वेष तो पहले समाप्त हो जाता है। राग का अपनयन कठिन होता है। लोभ आगे तक चलता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को वीतराग बनने की आवश्यकता है, वीतद्वेष बनने की जरूरत नहीं है। वह तो अपने आप घटित होगा। यह एक सचाई है कि समस्या मात्र लोभ या राग की है। प्रियता सबसे बड़ी समस्या है। अप्रियता तो प्रियता के कारण पैदा होती है। यदि किसी एक व्यक्ति के प्रति मन में प्रियता का भाव है तो यह निश्चित है कि दूसरे के प्रति अप्रियता का भाव पैदा होगा। अप्रियता प्रियता का प्रासंगिक परिणाम है। यह मौलिक तथ्य नही है। मौलिक तथ्य है प्रियता, राग, लोभ। लोभ के कारण ही क्रूरता का भाव उभरता है, स्वार्थ पैदा होता है।

आज के चारित्रिक ह्रास के पीछे मौलिक तत्त्व जो है, वह भीतरी है। यह आंतरिक समस्या है। राजनैतिक प्रणालियों ने बाहरी समस्या को खोजा है। उनके अनुसार वे तीन हैं—व्यक्तिगत परिस्थिति, आर्थिक परिस्थिति और सामाजिक परिस्थिति। इतिहास के संदर्भ में यह सचाई भी है पर यह मूलभूत सचाई नहीं है। जब तक हम बाहरी और आंतरिक—दोनों पक्षों को एक साथ लेकर समस्या पर विचार नहीं करेंगे तब तक समस्या का पूरा समाधान नहीं हो सकेगा। आज सारी प्रणालियां बाहरी पक्ष की परिधि में कार्य कर रही हैं और आंतरिक पक्ष की उपेक्षा की जा रही है। यह बड़ी विडंबना है। केवल न बाहर और न अन्दर। दोनों का सामंजस्य। यही है समस्या का समाधान। मैं तो सोचता हूं कि प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए पांच-सात प्रकार के व्यक्तियों का योग होना चाहिए। धर्मगुरु, मनोविज्ञानशास्त्री, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, शरीरशास्त्री और राजनेता। अगर इन पांच-सात व्यक्तियों का समुदाय किसी समस्या पर समवेत चिंतन करता है तो सुन्दर निष्कर्ष निकल सकता है। अपनी विद्या के सभी विशेषज्ञ होते हैं। अपने-अपने क्षेत्र में आनेवाली

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

समस्याओं के वे ज्ञाता होते हैं। वे ही उन-उन समस्याओं पर सही चिन्तन कर सकते हैं और सही समाधान दे सकते हैं। वह समन्वित समाधान ही सही समाधान होता है। किन्तु जब अलग-अलग पढ़े-लिखे लोग पृथक्-पृथक् चिंतन करते हैं तब वह चिंतन अधूरा होता है, समस्या का पूरा स्पर्श नहीं करता। इसका अर्थ होता है, समस्या को चिरकालीन बना देना, चिरायु बना देना। जब तक प्रक्रिया समन्वित नहीं होती तब तक समाधान नहीं मिलता।

हम यह कैसे स्वीकार करेंगे कि भ्रष्टाचार, सामाजिक विषमता और आर्थिक विषमता के पीछे लोभ की समस्या नहीं है। लोभ केवल धन का ही नहीं होता, वह सत्ता का भी होता है, आवश्यकताओं का भी होता है। आज सत्ता के लिये कितनी उखाड़ पछाड़ होती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को औद्योगिक विकास में आगे बढ़ने देना नहीं चाहता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सार्वजनिक आसन पर आगे आने देना नहीं चाहता। इन सबके पीछे लोभ की मनोवृत्ति कार्य करती है। जब तक लोभ की समस्या का समाधान नहीं होता, तब तक दूसरी समसयाएं कैसे समाहित हो सकती हैं? दूसरी सारी समस्याएं लोभ की उपजीवी समस्याएं हैं। लोभ सबको पोषण और संरक्षण दे रहा है।

तीसरी समस्या है—असहिष्णुता की समस्या। आज का आदमी सहना नहीं जानता। आज के युग के अनेक नाम हैं—वैज्ञानिक युग, औद्योगिक युग, आणविक युग आदि-आदि। यदि मुझे आज के युग के नामकरण का दायित्व दिया जाए तो मैं कहूंगा, आज का युग असहिष्णुता का युग है। पांच-सात वर्ष का बेटा बाप की बात को सहन नहीं करता। दस वर्ष होने पर घर से पलायन कर जाता है। पूछने पर कहता है, माता-पिता प्रतिक्षण कुछ न कुछ कहते ही रहते हैं। असहिष्णुता का बीज-वपन प्रारंभ से ही हो जाता है। कोई किसी को सहना जानता ही नहीं। बड़ी समस्या है यह असहिष्णुता। संभव है यह युग के विकिरणों का प्रभाव है, परमाणुओं का प्रभाव है। वे विकिरण सहिष्णुता को दबोच रहे हैं।

चौथी समस्या है—माया, कपट, प्रवंचना।

ये चार समस्याएं आज के युग की ज्वलंत समस्याएं हैं। ये मनुष्य की मौलिक आदतें बनी हुई हैं और आज के युग का भी इन्हें पूरा समर्थन मिल रहा है। जो व्यक्ति ध्यान साधना में जाता है, उसकी ये आदतें रूपांतरित होनी चाहिए। हमारी जागतिक चेतना 'कन्डीसन्ड माइन्ड' में परिवर्तित हो गई है। उसमें ये सारी आदतें घर कर गई हैं। इनका उन्मूलन सहज नहीं है। जब तक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

'सुपर माइन्ड' को सक्रिय नहीं कर दिया जाता तब तक इनको नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। जब तक अवचेतन मन को सक्रिय नहीं किया जाता तब तक आदतों का बदलना असंभव जैसा है। आदतों को बदलना, स्वभाव को बदलना बहुत टेढ़ा प्रश्न है। व्यवस्था बदली जा सकती है, पर आदमी की आदत नहीं बदली जा सकती या कठिनाई से बदली जा सकती है। जब तक आदत नहीं बदलती, स्वभाव नहीं बदलता, स्थानांतरण हो सकता है, रूपांतरण नहीं हो सकता। आदमी अनेक स्थान बदल लेता है, पर आदत बदलने में वह सक्षम नहीं होता। आदतें, संस्कार चेतना के किसी कोने में जमे हुए होते हैं। जब ध्यान की ऊर्जा प्रबल होती है, तब उसके द्वारा चेतना का शोधन होता है और तब आदतें छूट जाती हैं। उन्हें छोड़ा नहीं जाता, वे स्वयं छूट जाती हैं।

एक भाई ने पूछा, पातंजल योग में अष्टांग योग की एक पूरी पद्धति है। क्या प्रेक्षाध्यान में ऐसी क्रमिक पद्धति नहीं है?

मैंने कहा—वैसी क्रमिक पद्धति की बहुत आवश्यकता नहीं है। आज चिंतन बहुत आगे बढ़ गया है। दो विकल्प सामने हैं। एक है यम-नियम के क्रम से चलें और दूसरा है सीधे ध्यान से चलें। ध्यान की परिपक्वता में यम-नियम स्वयं सध जाते हैं, पर यम-नियम की साधना से ध्यान नहीं आता। यदि हम पहले यम-नियम को साधने में लगे रहे तो फिर ध्यान की प्रक्रिया तक पहुंचने में बहुत दीर्घ समय लग जाएगा। आज का आदमी उतना धैर्य नहीं रख सकता। आज वह अत्यन्त अधीर है। एक क्षेत्र में नहीं, सभी क्षेत्रों में उसकी अधीरता प्रत्यक्ष हो रही है। पति जीवन में दस पत्नियां बदल देता है और पत्नी दस पति बदल देती है। दिन में चार डॉक्टर बदल दिए जाते हैं। आज अधैर्य सीमा को लांघ चुका है। पहले यम को साधो, फिर नियम को साधो और चलते-चलते अन्त में समाधि तक पहुंचो। कितना दीर्घ समय! कितनी लम्बी साधना! आज का आदमी अभी, इसी क्षण फल चाहता है। यदि कोई लम्बी प्रक्रिया बता दी जाए तो पहले सोपान पर ही आदमी लड़खड़ा जाएगा। कहां चढ़ पाएगा आठ-दस सोपान? आवश्यकता यह है कि साधक को 'कुछ लाभ है' की अनुभूति प्रथम सोपान पर ही करा देनी चाहिए। यदि ऐसा होता है तो उसका उत्साह बना रहता है और वह आगे बढ़ने के लिए उत्सुक हो सकता है। ध्यान ही एक ऐसी प्रक्रिया है जो तत्काल लाभ की अनुभूति कराती है। आज के देश-काल को देखते हुए यही मार्ग सरल और संगत लगता है। ध्यान करते-करते आदतें बदल जाती हैं। आदतें बदलने के पश्चात आदमी ध्यान में लगे, यदि ऐसा हो तो आदमी कभी ध्यान में नहीं लग पाएगा। न तो मन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तेल होगा और न राधा नाचेगी। यदि हम यह प्रतिबंध लगा दें कि शिविर में वे ही व्यक्ति भाग लें या ध्यान में वे ही व्यक्ति आएं, जिनकी आदतें बदल चुकी हैं, तो मैं अकेला ही होता इस हॉल में, कोई नहीं आता। कैसी भी आदतें लेकर आए आदमी, ध्यान करते-करते उसमें रूपांतरण अवश्य होगा और एक दिन वह अनुभव करेगा कि वह अनेक आदतों से मुक्त हो गया है। यह क्राइटेरिया है। ध्यान सधा या नहीं, इसे जानना हो तो व्यक्ति के स्वभाव को देखें। यदि स्वभाव बदला है, आदतें बदली हैं, सहजता, सौम्यता और सहिष्णुता आयी है तो मान लें—ध्यान परिपक्व हो रहा है। यदि यह सब नहीं हुआ है या नहीं हो रहा है तो स्पष्ट है—ध्यान में कहीं न कहीं कमी है।

जर्मनी का एक युवा न्यायाधीश प्रेक्षा ध्यान शिविर में आया। कुछ दिन रहा। उसे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए कहा गया। उसने बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही। उसने कहा—मैं अभी कुछ नहीं बता सकता। मैं जब जर्मन जाऊंगा, अपनी पत्नी के साथ, बच्चों के साथ रहूंगा, मित्रों के साथ रहूंगा और वे यदि महसूस करेंगे कि मेरे पूर्ववर्ती व्यवहार में और वर्तमान व्यवहार में रात-दिन का अंतर है, यह व्यवहार अधिक सौम्य और सौहार्दपूर्ण है, तब मैं बता पाऊंगा कि क्या फलश्रुति हुई है। न्यायाधीश ने बड़े मर्म की बात कही। वह जर्मनी गया। ध्यान का क्रम चलता रहा। एक वर्ष पश्चात पुनः भारत आया। हमसे मिला। पूछने पर उसने कहा—'मेरा ध्यान का अभ्यास उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। अब मैं इतनी गहराई में जाने लगा हूं कि अभियुक्त मेरे सामने खड़ा होता है और मैं जब उस पर एकाग्र होता हूं तो मुझे ज्ञात हो जाता है कि वह अपराधी है या नहीं? मेरे सामने स्पष्ट चित्र आ जाता है।

व्यक्तित्व की कसौटी है व्यवहार। व्यवहार में आदमी सम, सहिष्णु करुणार्द्र और शांत होता है तो ध्यान की स्वयं फलश्रुति सामने आ जाती है। अकेला व्यक्ति शांत है या अशांत, कोई महत्त्व की बात नहीं है। भीड़ में, समस्याओं की संकुलता में वह शांत और सम रहता है तो यह विशेषता है। यह ध्यान की निष्पत्ति है।

व्यक्ति स्वयं देखे—ध्यान से क्या परिवर्तन हो रहा है? परिवर्तन के आधार पर ही यह समझा जा सकता है कि ध्यान रहा या नहीं। ध्यान से समग्र जीवन में परिवर्तन आना चाहिए—आहार और चर्या का परिवर्तन, नींद और जागृति में परिवर्तन, व्यवहार और आचरण में परिवर्तन। ध्यान समग्र जीवन का स्पर्श करता है। कोई यह समझे कि ध्यान तो पारलौकिक है—यह एकांगी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दृष्टिकोण होगा। ध्यान का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है मानवीय संबंधों पर। ध्यान करने वाले व्यक्ति में निर्मलता, सहिष्णुता, ऋजुता और निर्लोभता का विकास होता है।

दो भाई आपस में लड़ रहे थे। धन के बटवारे का प्रश्न था। लोगों के समझाने पर भी वे नहीं समझ पा रहे थे। एक दिन प्रेक्षाध्यान शिविर में आया। तन्मयता से उसने साधना की। वह शिविरकाल पूरा होने पर घर गया। उसका अंतःकरण बदल चुका था। उसने भाई को बुलाकर कहा—'भाई! जो कुछ तुम लेना चाहो, ले लो। जो कुछ मुझे देना चाहो, दे दो। यह रहा कोरा कागज, मैं इस पर अपने हस्ताक्षर कर देता हूं। जो कुछ लिखना चाहो, लिख लो। आज से संघर्ष समाप्त कर दो।'

वह भाई पिघल गया। दो क्षणों में वर्षों का संघर्ष मिट गया।

ऐसा होता है चेतना परिवर्तन से। सारे विवाद वस्तुनिष्ठ नहीं हैं, चेतनानिष्ठ हैं। हमारी सारी दृष्टि वस्तुनिष्ठ है। हम 'ऑब्जेक्ट में उलझे हुए हैं, सब्जेक्ट की उपेक्षा किए हुए हैं। जैसे ही चेतना का परिष्कार होता है, विवाद सुलझ जाते हैं, जैसे कुछ था ही नहीं। यह व्यवहार का परिवर्तन चेतना के स्तर पर होता है। जो व्यक्ति ध्यान को निरन्तर चलाना चाहते हैं, उन्हें प्रति तीन मास से अपने व्यवहार का परीक्षण कर लेना चाहिए। उसे देखना चाहिए कि तीन मास में इस बार व्यवहार में कितना, क्या परिवर्तन आया है। यह टेस्ट होना चाहिए। स्वयं के द्वारा स्वयं का टेस्ट। अध्यात्म नीडम् में ऐसे टेस्ट की व्यवस्था करें तो लोगों को लाभ हो सकता है। आज मेडिकल टेस्ट और साइकोलोजिकल टेस्टों की भरमार है। आध्यात्मिक टेस्ट को निकम्मा समझा जाता है। हम मेडिकल या साइकोलोजिकल टेस्ट में ही न अटके रहें। आदमी पर आज भी बाहर का प्रभाव है। जब पश्चिमी जगत में मनोविज्ञान की मान्यता प्रतिष्ठित है तो भारत का आदमी उसकी बिना मीमांसा किए उसे ग्रहण कर लेता है। उसे टुकराने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि आध्यात्मिकता की बात भी वहां से आती तो आदमी उससे चिपक जाता और 'साइकोलोजिकल टेस्ट' की भांति 'स्पिरीच्युएल टेस्ट' भी होने लगते। हम बाहर से आए हुए को अधिक महत्त्व देते रहे हैं और आज भी यही मनोवृत्ति बनी हुई है।

हमें प्रत्येक शिविरार्थी को आध्यात्मिक टेस्ट के लिये प्रेरित करना चाहिए, जिससे वह यह देख सके कि जीवन में क्रूरता कम हुई है, माया कितनी कम हुई है और ऋजुता कितनी बढ़ी है। लोभ कितना घटा है और निर्लोभता कितनी विकसित हुई है। आसक्ति कितनी घटी है और अनासक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कितनी आई है। इनका परीक्षण और निरीक्षण स्वयं के द्वारा हो। स्वयं बैरामीटर बने।

ध्यान की फलश्रुति है—अध्यात्म का विकास। इस विकास के साथ-साथ शारीरिक लाभ भी होते हैं, पर वह है सारा प्रासंगिक फल, गौण फल। ध्यान से रासायनिक परिवर्तन होते हैं और उनसे अनेक रोग मिटते हैं पर ध्यान का यह मूल उद्देश्य नहीं है। ध्यान का मूल उद्देश्य है व्यक्ति को यथार्थ से परिचित करना, यथार्थ में रह सकने की क्षमता प्रगट करना। भावनात्मक परिवर्तन ध्यान का मूल लक्ष्य है। यदि वह होता है तो शेष सारे परिवर्तन स्वतः होते रहते हैं। खेती ध्यान के लिए की जाती है, तूड़ी के लिये नहीं। धान होता है तो साथ-साथ तूड़ी भी होती है। यह अनिवार्यता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मन की सीमा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मन की शक्ति का प्रश्न

एक बहुत ही नटखट बन्दर है और उसके साथ हमें जीना है। उसे समझना जरूरी है। हमारा मन चंचल बन्दर है। उसे समझना इसलिए आवश्यक है कि हम उसे समझकर शान्तिमय, सुखमय और आनन्दमय जीवन जी सकें। उदयपुर की घटना है। मेडिकल कॉलेज से एक प्रोफेसर आए। उन्होंने कहा—मुनिजी! मन की विकट समस्या है। बड़ा चंचल है। कहीं स्थिर होता ही नहीं।

मन की चंचलता एक समस्या है शरीर-चिकित्सक के लिए भी और मनश्चिकित्सक के लिए भी। धार्मिक व्यक्तियों के लिए भी यह समस्या बना हुआ है। जब इन सबके सामने मन की समस्या है तब साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या? उसके सामने मन की कितनी बड़ी समस्या होगी, इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

एक भाई गैस ट्रबल से पीड़ित था। हार्ट ट्रबल की बात सुनकर वह चिन्तित हो गया। उसका मन टूट गया। उसके मन पर भी असर हो गया। अब जब कभी भी हार्ट ट्रबल वाले मित्र की याद आती है या यह स्मरण हो आता है कि गैस ट्रबल वाले को हार्ट ट्रबल भी होता है तो वह बुरी तरह से परेशान हो जाता है। बड़ी समस्या है। उसका शारीरिक बल क्षीण होता जा रहा है। उसके सामने बार-बार वही बात आती है, वही चित्र आता है तब उसमें निराशा छा जाती है।

एक व्यक्ति नहीं, न जाने कितने व्यक्ति इस प्रकार की जटिल समस्याओं से आक्रान्त रहते हैं। यदि उनकी सारी समस्याओं का आकलन किया जाए तो न जाने कितने महाग्रन्थ तैयार हो जाएं। हर व्यक्ति के सामने समस्या है। इसलिए मन को समझना बहुत जरूरी है। मैं इस बात पर इसलिए बल दे रहा हूं कि हम मन को जानते नहीं, समझते नहीं। मन जो है, वह है। वह बेचारा दोषी नहीं है। हम उस पर दोष आरोपित कर रहे हैं। दोषी कोई दूसरा ही है किन्तु हम मन पर ही सारा भार डाल देते हैं।

मन बेचारा गधा है, जो निरन्तर भार ढोता है। भार लादने वाला कोई दूसरा है और वह है भाव। जब तक हम भाव को नहीं समझेंगे तब तक मन की समस्याओं का समाधान नहीं पा सकेंगे। सभी मानसिक उलझनों तथा समस्याओं का मूल कारण है भाव। भाव ही सारी समस्याएं उत्पन्न करता है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और उनकी अभिव्यक्ति करवाता है मन के द्वारा। सेनापति कन्ट्रोल रूम में बैठा है। सारा संचालन कर रहा है। सेनापति मौत के सामने नही आता। बेचारा सैनिक पहले मारा जाता है। सैनिक का दोष ही क्या है? वह सेनापति के आदेश का पालन मात्र करता है। इसी प्रकार हमारी प्रवृत्तियों का सारा संचालन करता है हमारा भाव। हम सब भाव के द्वारा संचालित हैं। भाव परोक्ष में बैठा है। वह सब कुछ करवाता है मन के द्वारा। क्रियान्विति कारक है मन। वह सामने आता है। हम उससे उलझ जाते हैं। उसे भला-बुरा कह देते हैं। मन को ही उलझाते हैं और उसे ही सुलझाना चाहते हैं, उसके साथ ही सारी समस्याएं जोड़ देते हैं।

मानसिक समस्याओं से निपटने के लिए भाव को समझना नितांत जरूरी है। भाव हमारे व्यक्तित्व के गहनतम अन्तराल का स्रोत है। मन मस्तिष्क से संबंधित है। भाव बहुत गहराई में जाता है। इतनी गहराई में कि सामान्य आदमी वहां तक पहुंच ही नही पाता।

भाव अच्छा भी होता है और भाव बुरा भी होता है। जैसा भाव होता है वैसा ही मन हो जाता है। अच्छा भाव अच्छा मन और बुरा भाव बुरा मन। भाव के साथ मन चलता है, मन के साथ भाव नही चलता। हमारा अस्तित्व भाव से जुड़ा हुआ है। हमारी सारी अभिव्यक्ति भाव के कारण हो रही है। वल्ब वल्ब है। बिजली आती है तो प्रकाश कर देता है और बिजली नहीं आती है तो प्रकाश नही करता। प्रकाश करने या न करने में वल्ब का क्या दोष? करंट आता है तो प्रकाश हो जाता है, नहीं आता है तो अंधकार बना रहता है। हाई वोल्टेज हो तो अधिक प्रकाश होता है, लो वोल्टेज हो तो मंद प्रकाश होता है। इसमें वल्ब का क्या दोष? मूल कारण है विद्युत की तरंग।

एक शब्द बहुत प्रचलित है--मनोभाव। कोरा भाव नहीं, मन का भाव। मन में उतरने वाला भाव, मन में प्रतिध्वनित होने वाला भाव। जो मन में उतरता है वह मनोभाव हो जाता है। प्रेक्षा ध्यान का ध्येय है--भाव-परिष्कार।

प्रत्येक व्यक्ति प्रवृत्ति के एक चक्र में जी रहा है। दो हैं--प्रवृत्ति और परिणाम। वर्तमान की प्रवृत्ति और अतीत का परिणाम। प्रत्येक आदमी वर्तमान में जीता है, अतीत को भोगता है और वर्तमान में कुछ करता है। यह चक्र चल रहा है। हमने अपना अतीत बनाया। उसे आज भोग रहे हैं। यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि वर्तमान में हम जो कुछ कर रहे हैं, उसके साथ अतीत का संबंध भी जुड़ा हुआ है। इस बिन्दु पर तरंग शास्त्र की गहन खोजों का,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कर्मशास्त्र के गहनतम सिद्धांतों का अनुशीलन करना बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयत्न होता है। हमारे जीवन-विश्लेषण में एक महत्त्वपूर्ण भाग है कर्मशास्त्र का। मानस शास्त्र में साइकोलोजिकल एनेलिसिस द्वारा जिन रहस्यों का उद्घाटन अभी तक नहीं हुआ, उन रहस्यों का उद्घाटन बहुत पहले कर्मशास्त्र कर चुके हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, प्रत्येक कर्म का प्रतिकर्म होता है। वे हमारे साथ जुड़ जाते हैं। वे न केवल इस मस्तिष्क के साथ जुड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ जाते हैं। हमारा सूक्ष्म शरीर निरन्तर संचित होता रहता है। अनंत-अनंत बंधनों का चक्र उसमें चलता है। जब वे स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं तब उनका अनुभव होता है। वह चक्र निरंतर चलता ही रहता है। स्थूल शरीर में जितने केन्द्र हैं, स्रोत हैं, द्वार हैं, वे सबके सब सूक्ष्म शरीर से संबंधित केन्द्र, स्रोत और द्वार हैं। जैसी सूक्ष्म शरीर की रचना है, वैसी ही संवादी रचना स्थूल शरीर की हो जाती है।

भाव का स्रोत है—सूक्ष्म शरीर। सारे भाव सूक्ष्म शरीर में उत्पन्न होते हैं और वहां से छन कर स्थूल शरीर में आते हैं। वे ही भाव हमारे शरीर, मन और वाणी को प्रभावित करते हैं, उनमें अपना चैतन्य उड़ेल देते हैं। तब हमारा शरीर, मन और वाणी—तीनों संचेतन हो जाते हैं। स्रोत भीतर है, वहीं से सब कुछ आ रहा है।

हमें भाव और सूक्ष्म शरीर को समझना है। यदि केवल मन के आविष्कार की बात सोचेंगे तो हाथ कुछ भी नहीं आएगा। हमें सारा ध्यान केन्द्रित करना है भाव-संस्थान पर। भाव को केन्द्र में रखकर हमें ध्यान का प्रयोग करना है। हमें भाव का परिष्कार करना है।

ध्यान करने वाले व्यक्ति में और ध्यान न करने वाले व्यक्ति में क्या अन्तर होता है, इसे भी हमें जान लेना है। हर व्यक्ति अतीत को भोगता है। ध्यान करता है, वह भी अतीत को भोगता है और ध्यान न करने वाला भी अतीत को भोगता है। जो संचित कर्म है, उसे भोगना पड़ता है। वर्तमान में दोनों व्यक्ति, ध्यान करने वाला और ध्यान न करने वाला, प्रवृत्ति करते हैं और अतीत का भोग भी करते हैं, पर दोनों में अन्तर क्या है? उनका अन्तर स्पष्ट है। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता, ध्यान का अभ्यास नहीं करता, वह वर्तमान में अतीत को भोगता है और फिर अतीत के भोग जैसे ही भविष्य का निर्माण कर लेता है। एक श्रृंखला जुड़ जाती है। जैसा अतीत, वैसा अतीत का भोग, वैसा ही भविष्य, वैसा ही भविष्य का निर्माण। हिंसा का विपाक भोग रहा है तो नई हिंसा की प्रवृत्ति कर, फिर हिंसा को दो कदम आगे बढ़ा देता है। हिंसा, झूठ,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चोरी—इन अतीत के भावों के परिणामों को वर्तमान में भोगता है। वर्तमान में पुनः हिंसा की प्रवृत्ति, चोरी की प्रवृत्ति और असत्य की प्रवृत्ति कर भविष्य के लिए एक नए अतीत का निर्माण और कर लेता है। यह चक्र आगे से आगे चलता रहता है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति इस चक्र को तोड़ देता है। वह अतीत को भोगता है पर पूर्ण जागरूकता, समता और तटस्थता के साथ भोगता है। इसका फलित यह होता है कि अतीत वहीं टूट जाता है। वह आगे नहीं बढ़ पाता। हिंसाजनित कष्टों को भोगने वाला, हिंसा के परिणामों को भोगने वाला व्यक्ति यदि जागरूक होता है तो इतना परिष्कार कर लेगा कि भविष्य में हिंसा का भाव ही उत्पन्न न हो। बहुत बड़ा अन्तर होता है। एक आदमी बीमार हुआ। वह अपने किए हुए कर्म (बीमारी) को भुगत रहा है। वह उसको भोगते समय इतनी आकुलता और व्याकुलता से भरा रहता है कि वह उस बीमारी को भोगते-भोगते फिर नई बीमारी का बीज बो देता है। दूसरा आदमी बीमारी को भोग रहा है, किन्तु समता और शान्ति के साथ। वह सोचता है, मैंने अतीत में कुछ अनिष्ट किया था, उसका फल भुगत रहा हूं। यदि इस समय भी आर्त्तध्यान रहेगा, परिणामों की अशुद्ध धारा बहेगी, भाव विकृत होगा और रो-रोकर कष्ट सहूंगा तो वह नए सिरे से नई बीमारी का बीज बो देगा। मुझे कृत का भोग करना ही पड़ेगा। अच्छा है—समता से उस कष्ट को सहा जाए, शांति के साथ उसे भोगा जाए। इससे अतीत का परिष्कार होगा और यह श्रृंखला आगे नहीं बढ़ेगी।

ध्यान का अर्थ है—जीवन में जागरूकता का विकास। ध्यान से चेतना इतनी निर्मल बन जाती है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में समता अवतरित हो जाती है। हर घटना के साथ समता का भाव जुड़ जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जो अर्जित है, उसे भुगतना ही पड़ता है। फिर वह व्यक्ति चाहे धर्म करने वाला हो या धर्म न करने वाला हो। फिर वह व्यक्ति चाहे ध्यान करने वाला हो या ध्यान न करने वाला हो। अन्तर का बिन्दु कहां है, हम उसे पकड़ें।

एक अत्यन्त धार्मिक और श्रद्धालु व्यक्ति है। उसके प्रिय का वियोग हो गया। क्या उसे कष्ट नहीं होता? क्या उसके सामने समस्या नहीं आती? क्या धार्मिक व्यक्ति के कभी प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग नहीं होता? क्या वह उसमें अत्यन्त दीन-हीन और विक्षिप्त हो जाएगा? यदि होता है तो धार्मिक बनने का अर्थ ही क्या रहा? लोक कहते हैं कि धार्मिक व्यक्ति में आपत्ति आए, कष्ट आए तो फिर धर्म किस काम का? अधार्मिक व्यक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

में कष्ट आए, विपत्ति आए, यह तो समझे में आने वाली बात है, क्योंकि वह अधर्म कर रहा है। अधर्म का फल है विपत्ति। पर धार्मिक को विपत्ति का सामना करना पड़े, यह न्याय नहीं कहा जा सकता। फिर धर्म करने और न करने में अन्तर ही क्या पड़ा?

इस बिंदु पर आकर व्यक्ति भटक जाते हैं। वे व्यक्ति इस सचाई को भुला देते हैं कि धर्म करने वाला हो या धर्म न करने वाला हो, सबको अपना-अपना पूर्व अर्जित कर्म भोगना ही पड़ेगा। जो संचित है, उसका उपयोग किए बिना कभी छुटकारा संभव नहीं है। संभव क्या, छुटकारा हो ही नहीं सकता। जो संस्कार संचित हैं, वे अवश्य प्रगट होते हैं। अन्तर का बिंदु यह नहीं है, कोई दूसरा है।

धार्मिक व्यक्ति में भयंकर कष्ट आते हैं। अनेक विकट समस्याओं का उसे सामना करना पड़ता है पर वह इन उलझनों से घबराता नहीं, इन्हें प्रसन्नता से, समभाव से सह लेता है। यही धर्म की फलश्रुति है, कसौटी है।

अधार्मिक व्यक्ति में भी कष्ट आते हैं, पर वह छोटी-सी समस्या में इतना उलझ जाता है कि वह समस्या के समक्ष घुटने टेक देता है।

धर्म का अर्थ है, अधार्मिक होने का तात्पर्य है कि प्रत्येक समस्या के साथ समता को जोड़ दो। जब यह समता जुड़ती है तब न जाने कितने-कितने पुराने भावों का परिष्कार हो जाता है।

परिष्कार का यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता। जागरूकता का सबसे बड़ा सूत्र है—श्वास-दर्शन। श्वास-दर्शन है वर्तमान में जीने का प्रयोग, भाव क्रिया का जीवन। जिस व्यक्ति ने भावक्रिया का अभ्यास किया है और इस अभ्यास के लिए जिसने श्वास का आलम्बन लिया है, वह सचमुच समता के भाव को विकसित करने में सफल हो जाता है। श्वास का प्रयोग समता के विकास का प्रयोग है। उसके साथ न प्रियता का भाव जुड़ता है और न अप्रियता का भाव जुड़ता है। जिस क्षण में हम श्वास का अनुभव करते हैं, उस क्षण में ये दोनों भाव नहीं होते। उस समय केवल श्वास का अनुभव चलता है। उसका फलित है समता का प्रगट होना।

केवल आंख मूंद कर बैठ जाना, श्वास को देखना, यह प्रेक्षा-ध्यान का हार्द नहीं है। श्वास बेचारा जड़ है। वह हमारा क्या भला करेगा? शरीर भी जड़ है। उसे स्थिर करें या हिलायें, क्या अन्तर आएगा? शरीर की स्थिरता, कायोत्सर्ग, समताल श्वास—यह सब किसलिए? इनका प्रयोजन क्या है? एक शब्द में इनका प्रयोजन है समता का साक्षात्कार या समता का प्रगटीकरण। यह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हमारा साध्य है और यही हमारा प्रेक्षाध्यान का हृदय है।

समता की अनुभूति का नाम है—ध्यान। आंख मूंद कर बैठने का नाम ध्यान नहीं है। विचार-शून्य हो जाना ही ध्यान नहीं है। एकाग्र हो जाना ही ध्यान नहीं है। विचारशून्य होना भी एक साधन है, साध्य नहीं है। एकाग्र होना भी एक साधन है, साध्य नहीं। साध्य है समताभाव, सामायिक। ऐसी समता की चेतना का जागरण जिसके जागने पर सारे भावों और संस्कारों का परिष्कार हो सके, परिमार्जन हो सके और भविष्य को अधिक बोझा न ढोना पड़े। बेचारे भविष्य की, जो वर्तमान होता है, अतीत का कितना बोझ ढोना पड़ता है?

बादशाह अकबर, बीरबल और शाहजादा—तीनों जंगल में घूमने निकले। गांव के बाहर जाकर बादशाह ने अपने सारे कपड़े उतारकर बीरबल को दे दिये। शाहजादा ने देखा, उसने भी अपने कपड़े उतार कर बीरबल को दे दिये। बीरबल के कपड़ों का भारी बोझ हो गया। बादशाह ने बीरबल की हालत देखकर व्यंग कसते हुए कहा—बीरबल! आज तो गधे का-सा भार ढो रहे हो? बीरबल बोला—'जहांपनाह! एक गधे का नहीं, दो गधों का भार ढो रहा हूं।'

बीरबल को दो गधों का भार ढोना पड़ा होगा, पर आज मनुष्य न जाने कितने गधों का भार ढो रहा है? व्यक्ति अतीत का परिष्कार नहीं करता तो उसे इतने गधों का भार ढोना पड़ता है कि बेचारा वर्तमान उस भार के नीचे दब कर टूट जाता है।

मन क्यों टूटता है? मन में बैचेनी क्यों होती है? मन में डिप्रेसन क्यों होता है? मन क्यों सताता है? उसमें कमजोरियां क्यों आती हैं? उसमें भय क्यों उत्पन्न होता है? अकारण ही भय क्यों सताता है? ये प्रश्न हैं।

इन सब समस्याओं से मुक्त होने के लिए हम वर्तमान को समझें, वर्तमान में जीएं। पर अतीत से कट होकर नहीं। अतीत का भी पूरा मूल्यांकन करते रहें, क्योंकि हम अतीत से बहुत प्रभावित होते हैं। अतीत का परिष्कार करते चलें, पर वर्तमान पर इतना बोझ न लादें कि वह टूट जाए।

भाव, मन और प्रभाव—यह त्रिकोण है। एक कोण पर है भाव, तीसरे कोण है प्रभाव और दूसरे कोण पर है मन। भाव मन पर बोझ लाद रहा है तो प्रभाव भी मन पर बोझ लाद रहा है। मन दोनों ओर से भारी हो रहा है। दोनों पाटों के बीच में वह पिसता जा रहा है। कबीर ने ठीक ही कहा था—'दो पाटन के बीच में साबत बचा न कोय।' प्रभाव अनेक प्रकार से होता है।

भगवान महावीर ने कहा—'प्रत्येक वस्तु को समझने के लिए, सचाई को समझने के लिए चार दृष्टियों का उपयोग करना होगा। वे चार दृष्टियां

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है—द्रव्य की दृष्टि, क्षेत्र की दृष्टि, काल की दृष्टि और भाव की दृष्टि। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर ही वस्तु-सत्य तक पहुंचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।'

यदि कोई आइन्स्टीन को समझना चाहे, सापेक्षवाद को समझना चाहे तो स्पेस और टाइम को समझना होगा। यदि स्पेस और टाइम को नहीं समझा जाता है तो न आइन्स्टीन को समझा जा सकता है और न सापेक्षवाद को समझा जा सकता है।

इसी प्रकार इन चार आयामों—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझे बिना अनेकान्त को नहीं समझा जा सकता और सत्य को भी नहीं समझा जा सकता। वस्तु की सही व्याख्या नहीं की जा सकती। मन पर क्षेत्र का भी प्रभाव पड़ता है और काल का भी प्रभाव पड़ता है। आदमी एक स्थान पर जाता है और अचानक उसके भावों में परिवर्तन आ जाता है, मन बदल जाता है।

श्रवण कुमार अपने बूढ़े माता-पिता को कावड़ में बिठाकर ले जा रहा था। चलते-चलते एक स्थान पर उसके मन में यह भाव जागा—मेरे माता-पिता की आंखें नहीं हैं, वे देख नहीं सकते। पर उनके पैर तो हैं, वे चल तो सकते हैं। आंखों से नहीं चला जाता। पैरों से चला जाता है। पैर मजबूत हैं, आंखें भले न हों। तर्क पर तर्क चलता रहा। मैं कावड़ को कंधों पर उठाकर, इन्हें लिए-लिए क्यों फिरूं? व्यर्थ ही भार क्यों ढोऊं? तर्क ने अपना काम किया और श्रवण कुमार ने कावड़ को कंधे से उतारकर रख दिया। उसने कहा—पूज्य माता-पिता! आपके पैर मजबूत हैं, आप पैदल चल सकते हैं। आंखें नहीं हैं तो मैं रास्ता दिखाता चलूंगा, आपकी लाठी पकड़े आगे-आगे चलूंगा, आप पैदल चलें। मुझ पर यह व्यर्थ का बोझ क्यों?

माता-पिता ने सोचा—अरे इतना नम्र और सुशील श्रवण कुमार हमारा पुत्र! इतना अनुशासित और माता-पिता का भक्त श्रवण कुमार! आज इसका यह व्यवहार कैसे? पिता ऋषि था, ज्ञानी था। उसने ध्यान किया, जान लिया और तत्काल नीचे उतर गए। पैदल चलने लगे। पांच सौ कदम गए होंगे, श्रवण कुमार ने सोचा—ओह! मैंने यह क्या कर डाला? मैंने अनर्थ कर दिया। माता-पिता को कावड़ में ले जाने की प्रतिज्ञा से मैं चला था, बीच में उन्हें पैदल चलने के लिए मजबूर किया, यह मेरा बड़ा अपराध हो गया। वह रुका। माता-पिता के पैरों में गिरकर, गिड़गिड़ाते हुए बोला—'पूज्यवर! आप कावड़ में बैठें। मैं कावड़ में ही आपको यात्रा कराऊंगा। मैंने जघन्यतम अपराध किया है, आप क्षमा करें।' पिता ने कहा—'वत्स! तेरा कुछ भी अपराध नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अपराध सारा क्षेत्र का है। उस क्षेत्र में आते ही तेरा वह मनोभाव बना और जैसे ही उस क्षेत्र से हम बाहर आए, वह मनोभाव मिट गया। यह अपराध क्षेत्र का था, तुम्हारा नहीं। इस भूमि पर आते ही मनोभाव बदल जाते हैं, उद्दंडता आ जाती है। क्योंकि यह भूमि उस असुर की है, जिसने अपने माता-पिता का वध किया था। इस भूमि के चुम्बकीय तरंग ही ऐसे हैं कि वे यहां आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में उद्दंडता के भाव उत्पन्न करते हैं।

गुजरात प्रवास में एक पत्रकार ने आचार्य श्री से पूछा—'आपको गुजरात की भूमि कैसी लगी?' आचार्यवर ने कहा—'यह भूमि आध्यात्मिक तरंगों से परिपूर्ण है। यहां अध्यात्म का बीज बोया जा सकता है।'

भूमि का, क्षेत्र का प्रभाव होता है। एक क्षेत्र में जाते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है और एक क्षेत्र में जाते ही मन अकारण ही विषण्ण हो जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र की चूर्णि में सिद्धशिला का महत्त्व वर्णित है। कहा गया—उस भूमि का ऐसा प्रभाव है कि वहां जाकर यदि कोई साधना करता है, ध्यान करता है तो वह सहज-सरल ढंग से केवल-ज्ञानी बन जाता है। हमारे मन में भी भावना जागती है कि हम भी उस स्थान की खोज करें, वहां जाएं और सारी प्रक्रियाओं से मुक्त होकर, सरलता से केवलज्ञानी बन जाएं। सिद्धशिला का वह स्थान यथार्थ है, पर उसको पाना सरल नहीं है।

नेपाल के एक तांत्रिक जैन विश्व भारती में आए। उन्होंने 'तुलसी अध्यात्म नीडम' की भूमि को देखा, वहां कुछ दिन रहे, ध्यान के प्रयोग किए। उन्होंने कहा—मेरी दृष्टि में पांच सौ-चार सौ वर्ष पूर्व यह भूमि साधना की भूमि रही है। यहां अनेक ऋषि-मुनि तपे हैं। यहां आते ही मन शुभ भावनाएं करने लगता है, चिंतन प्रशस्त और शुभ होता है। यहां ध्यान भी गहरा जमता है।

क्षेत्र का प्रभाव मन को प्रभावित करता है। यह बात बहुत सूक्ष्म है। सामान्य व्यक्ति इसको समझ ही नहीं पाता। पर क्षेत्र और काल को समझे बिना किसी भी समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता। वैज्ञानिक युग में जीने वाला व्यक्ति यह जानता है कि हमारा यह आकाश-मंडल तरंगों और ऊर्मियों से भरा पड़ा है। इसमें अनन्त वाइब्रेशन्स हैं। यह सूक्ष्म और सूक्ष्मतर कणों से भरा है और वे सारे कण आदमी को प्रभावित करते हैं। सौर-मंडल से आने वाले विकिरण, भूमि पर होने वाले प्रकंपन, पर्यावरण में होने वाले प्रकंपन—ये सारे मनुष्य को प्रभावित करते हैं, व्यक्ति की भावधारा को प्रभावित करते हैं। भावधारा बोझ डालती है मन पर।

जो व्यक्ति मन की समस्याओं को सुलझाना चाहता है, मानसिक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

शान्ति को घटित करना चाहता है तो उसे गहराई में जाना ही होगा। उसे अनेक तथ्यों को ज्ञात करना होगा। स्वयं को खपाए बिना मानसिक शांति उपलब्ध नहीं होती। जो बिना प्रयत्न या श्रम किए मानसिक शांति को घटित करना चाहता है, वह मानसिक उलझनों में और अधिक फंस जाता है।

अनेक व्यक्ति व्यग्रता से आते हैं और पूछते हैं—'महाराज! मानसिक अशान्ति बहुत है उसे मिटाने का उपाय बताएं। मैं जल्दी में हूं। अभी-अभी मुझे ट्रेन पकड़नी है। शीघ्र उपाय बतायें। मैं मन ही मन सोचता हूं, कितने नादान हैं ये मनुष्य! मानसिक उलझन मिटाना चाहते हैं, पर उसे दाल-रोटी मान रहे हैं। क्या वह क्षण भर में सुलझायी जा सकती है? दाल-रोटी प्राप्त करना या खाना भी तो सीधी बात नहीं है। बीज कहां बोया जाता है? कहां उगता है? कहां बिखरता है? पूरी प्रक्रिया को देखें। कितनी लंबी श्रृंखला जुड़ी होती है उसके साथ। सारी प्रक्रियाओं से गुजरने के पश्चात ही दाल-रोटी प्राप्त होती है।

मानसिक उलझनों को सुलझाने और मानसिक शांति को घटित करने के लिए भी अनेक प्रक्रियाओं से गुजरना आवश्यक होता है। जब तक हम मन पर होने वाले प्रभावों के घटक तत्त्वों को नहीं समझेंगे, तब तक मानसिक शांति का प्रश्न समाहित नहीं होगा। इस संक्रमण और प्रदूषण के वातावरण में जीने वाला आदमी जब तक शोधन नहीं करेगा तब तक साधना की बात पर्याप्त नहीं होगी। चूल्हा है। आग जल रही है। ऊपर पानी से भरा हुआ बर्तन रखा हुआ है। आदमी सोचता है कि पानी गर्म कैसे नहीं होगा? अशुद्ध भावों की तेज अग्नि भभक रही है तो ऊपर रखा हुआ मन गर्म क्यों नहीं होगा? वह उबलेगा क्यों नहीं? अशान्त क्यों नहीं होगा? मन पानी है। पानी गर्म नहीं होता। उसका स्वभाव है ठंडापन। जब आग आती है, तब उसे गर्म होना पड़ता है। बेचारा मन अशान्त नहीं है, ठंडा है, किन्तु नीचे अशुद्ध भावों की भट्ठी जल रही है, तब मन गर्म क्यों नहीं होगा? उसमें उबाल क्यों नहीं आएगा?

यदि मन की अशांति को मिटाना है तो हमें ध्यान देना होगा भावों पर। भाव की शांति, मन की शांति। भाव की अशांति मन की अशांति। यह समीकरण प्राप्त होता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भाव और आयुर्विज्ञान

शरीर में उत्पन्न होने वाली बीमारी व्याधि है और मन पर उतरने वाली बीमारी आधि है। यह स्पष्ट है किंतु इसका कारण अस्पष्ट है, परोक्ष है। जब तक हम उस परोक्ष कारण को नहीं समझ पाएंगे तब तक समाधान नहीं मिलेगा। केवल प्रत्यक्ष कारण के आधार पर समाधान नहीं खोजा जा सकता। उसका निदान और चिकित्सा नहीं होगी। हमें दृश्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों पर विचार करना होगा। जिन लोगों ने औषधि का विधान किया, चिकित्सा का विधान किया, उन्होंने केवल प्रत्यक्ष को ही नहीं देखा, केवल कार्य को ही पर्याप्त नहीं माना। उन्होंने परोक्ष में छिपे हुए हेतु की भी खोज की। जब हेतु की मीमांसा ठीक हो जाती है तो निदान करना सरल हो जाता है।

आयुर्वेद में तीन दोष माने जाते हैं—वात, पित्त और कफ। जब वात, पित्त और कफ का संतुलन होता है तब स्वास्थ्य बना रहता है और जब यह संतुलन टूट जाता है तब स्वास्थ्य में गड़बड़ी हो जाती है। इसी असंतुलन से शारीरिक और मानसिक—दोनों प्रकार की बीमारियां पैदा होती हैं। ये तीन दोष शारीरिक और मानसिक रोग ही पैदा नहीं करते, भावों पर भी प्रभाव डालते हैं। भावों के साथ इनका गहरा सम्बन्ध है। भाव इन तीनों दोषों से प्रभावित होते हैं। ये दोष भावों को उत्पन्न करते हैं। वायु का प्रकोप बढ़ने पर भय अधिक लगने लग जाता है। कुछ लोग अकारण ही डरने लग जाते हैं। उन्हें भय अधिक लगता है। इसका अर्थ है कि उन व्यक्तियों में वायु प्रकुपित है। वायु का प्रकोप बढ़ने पर कल्पनाएं जागती हैं। पित्त का प्रकोप होने पर क्रोध बढ़ता है। पित्त और क्रोध का सम्बन्ध है। पित्त बढ़ता है तो साथ-साथ क्रोध भी बढ़ता है और क्रोध बढ़ता है तो पित्त भी बढ़ता है। कफ की मात्रा अधिक होने पर तन्द्रा सताती है। मन में शोक उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ये दोष भावों को उत्पन्न करते हैं, भावों को अभिव्यक्त करते हैं। ये सब भाव अस्तित्व में रहते हैं। हमारे अंतःकरण या सूक्ष्म शरीर में काम, क्रोध, शोक, भय—ये सब विद्यमान हैं। परंतु ये निरंतर प्रकट नहीं रहते। जब उचित निमित्त मिलता है तब अभिव्यक्त हो जाते हैं। निमित्तों की आज कोई कमी नहीं है। निमित्त पाकर अभिव्यक्त हो जाते हैं। अन्यथा अनभिव्यक्त रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं होते। जब भावधारा शुद्ध होती है तो अशुद्ध भावधारा परदे के पीछे चली जाती है और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यदि अशुद्ध भावधारा होती है तो शुद्ध भावधारा तिरोहित हो जाती है। दोनों एक साथ नही रह सकते। यह तो तर्क सिद्ध बात है।

एक आदमी तीन किलो दूध लाया। उसने कुछ स्वयं पी लिया और कुछ लड़के को पिला दिया। दूध समाप्त हो गया। मालिक ने पूछा—मैंने जो दूध मंगाया था, वह कहां है? यह मनुष्य की दुर्बलता है कि सत्य को स्वीकार करना नहीं चाहता। वह तर्क की ओट में सत्य को छिपाकर असत्य बोलना अधिक पसन्द करता है। उसने कहा—'दूध तो मैं तीन किलो लाया था, पर बिल्ली उसे पी गई।' मालिक ने कहा—तीन किलो दूध बिल्ली कैसे पी गई? वह बोला—'मैं नहीं जानता। संभव है वह भूखी थी और सारा दूध चट कर गई।' मालिक ने बिल्ली को पकड़ कर तोला। उसका वजन तीन किलो निकला। मालिक बोला—तीन किलो की बिल्ली तीन किलो दूध पीती है तो उसका वजन छह किला होना चाहिए। यह तो तीन किलो है।

हमारी भावधारा के लिए भी यही कहा जा सकता है कि तीन किलो अशुद्ध भावधारा है तो तीन किलो शुद्ध भावधारा नहीं हो सकती। दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते। हमारे भीतर अनेक धाराएं प्रवाहित हो रही हैं। किंतु हमें उन्हीं का पता चलता है जो अभिव्यक्त होती हैं। इसीलिए हमें निमित्तों के प्रति पूर्ण सावधान रहना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल उपादान में विश्वास करता है और निमित्तों की उपेक्षा करता है, वह बहुत खतरे मोल ले लेता है। उपादान का मूल्य है तो निमित्तों का भी अपना मूल्य है। निमित्तों के प्रति सावधान रहना बहुत जरूरी है। उपादान की अभिव्यक्ति निमित्त के बिना नहीं हो सकती। विद्युत का कार्य है प्रकाश करना। यदि बल्ब नहीं है तो प्रकाश अभिव्यक्त नहीं होगा। सोचना मन का कार्य है, किंतु वाणी का निमित्त न मिले तो मन की बात मन में रह जाती है, अभिव्यक्त नहीं हो सकती। सारी अभिव्यक्तियां माध्यमों से, निमित्तों से होती है। इसीलिए सर्वांगीण दृष्टि से विचार करने वाला व्यक्ति केवल आत्मा को अथवा आत्मा में होने वाली अवस्था को अतिरिक्त मूल्य नहीं दे सकता और न व्यवस्था को अतिरिक्त मूल्य दे सकता है। वह परिस्थिति और अन्तःकरण—दोनों का समन्वय कर चलता है।

कुछ लोग एकांगी दृष्टि वाले होते हैं। वे या तो उपादान को ही सब कुछ मान लेते हैं या निमित्त को ही सब कुछ मान लेते हैं। जो उपादानवादी होते हैं वे सारा भार उपादान या निश्चय नय पर डाल देते हैं। जो निमित्तवादी या परिस्थितिवादी होते हैं वे सारा दायित्व निमित्त या परिस्थिति पर डाल देते हैं। दोनों ओर उलझनें हैं, समस्याएं हैं। हमें इनका योग व समन्वय सीखना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होगा। जितना उपादान का मूल्य है, हम उसे वह दें और निमित्त का जितना मूल्य है, हम उसे वह मूल्य दें। दोनों का यथार्थ मूल्य समझकर जब जिसको जितना मूल्य देना है, उसको उतना मूल्य दें। हमारे मनोभाव का उपादान हमारे सूक्ष्म शरीर में विद्यमान है, हमारी चेतना के सूक्ष्म अध्यवसायों में है किंतु भावों की अभिव्यक्ति होती है निमित्तों के द्वारा। हमारे शरीर में होने वाले रसायन, जैविक कण आदि उसकी अभिव्यक्ति में निमित्त बनते हैं। जैसा रसायन होता है, वैसा भाव बनता है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भावों से हमारे रसायन प्रभावित होते हैं और रसायन भावों को प्रभावित करते हैं। एक चक्र-सा बन जाता है—काम, शोक, भय, वायु। इसका तात्पर्य है कि वायु का प्रकोप तब होता है जब काम, शोक और वायु को प्रकुपित करते हैं। हम यह भी कह सकते हैं—जब वायु का प्रकोप होता है तब काम, भय और शोक बढ़ता है। पूरा सर्कल है। भाव से रसायन और रसायन से भाव प्रभावित होता है।

चित्त बहुत चंचल है। वह जमता ही नहीं, एकाग्र ही नहीं होता। और-और विश्लेषणों के साथ हमें यह भी विश्लेषण कर लेना चाहिए कि चित्त की चंचलता में कहीं कोई शारीरिक रसायन तो बाधा नहीं डाल रहा है? आयुर्वेद कहता है—'पित्तोदयाद् चांचल्यम्'—पित्त को प्रकुपित होने पर चित्त की चंचलता बढ़ती है। जिस व्यक्ति का पित्त कुपित है, वह यदि ध्यान करने बैठेगा तो उसका ध्यान एकाग्र नहीं होगा।

कुछेक व्यक्तियों को तन्द्रा निरन्तर सताती है। इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में कफ का प्रकोप है। यदि यह बात समझ में आ जाती है तो उसका समाधान भी ढूंढ़ा जा सकता है। आयुर्वेद के अनुसार भैंस का दूध निद्रा को बढ़ाता है। अनिद्रा के रोग में भैंस का दूध उपयोगी होता है। दही भी नींद को पैदा करता है। ये पदार्थ भावों को पैदा करने वाले हैं। इन पर भी हमें विचार करना चाहिए। इन पर विमर्श करने पर भाव-परिवर्तन की चाबी हमारे हाथ लग जाती है। सबसे कठिन कार्य है चाबी का हाथ आना। चाबी के बिना ताला नहीं खुलता।

चाबी गुम हो गई। ताला नहीं खुला। आदमी ने ताले पर हथोड़े से चोट की। फिर भी ताला नहीं खुला। उसने दो-चार प्रहार किए, फिर भी ताला नहीं खुला। इतने में ही एक आदमी चाबी लेकर आया। ताले में चाबी घुमाई और ताला खुल गया। हथोड़े से चोट करने वाले व्यक्ति ने कहा—अरे, यह क्या? मैंने इतने प्रहार किए और ताला नहीं खुला, तुमने केवल चाबी अन्दर घुमाई और ताला खुल गया। यह क्या? वह बोला—तुम सचाई को नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जानते। जो भीतर देखना या पैठना नही जानता, वह तोड़ सकता है, खोल नही सकता। वह टूट सकता है, खुल नहीं सकता। हथोड़ा भीतर नहीं जाता, इसलिए वह तोड़ सकता है, खोल नही सकता। चाबी भीतर तक प्रवेश कर जाती है, इसलिए वह तोड़ती नहीं, खोलती है।

यदि हमारी चेतना भीतर तक चली जाती है, चित्त भीतर तक चला जाता है तो न जाने कितने रहस्यों को उद्घाटित कर देता है, अनावृत कर देता है, कितनी गुत्थियों को खोल देता है। मनोग्रंथियों को खोलने की ये सारी चाबियां हैं। जब ये चाबियां प्राप्त हो जाती हैं हम मनोग्रन्थियों को सहजतया खोल सकते हैं और मन को ग्रन्थिमुक्त बना सकते हैं। न जाने कितनी ग्रन्थियां घुली हुई हैं मन में। हम उनको समझें और उपयुक्त चाबियों से उनको खोलने का प्रयत्न करें।

हमारा मन ग्रन्थिमय बन गया है। प्रश्न होता है कि हमारा मन जब वायु, पित्त और कफ से प्रभावित होता है तो क्या सिद्धांत को जान लेना ही पर्याप्त है अथवा ऐसा कोई उपाय करना है, जिससे मन अप्रभावित रह सके? क्या उसे ग्रन्थिमय ही रखना है या ग्रंथिमुक्त करना है?

ग्रंथिमोचन का कार्य अध्यात्म का है। यहां आयुर्वेद और अध्यात्म का मिलन होता है। अध्यात्म का काम है कि वह इन दोषों के प्रभाव से मन को बचाए। आयुर्वेद में इतना मात्र बता दिया कि शोक और भय से कौन-सा दोष प्रभावित होता है पर उसने यह नहीं बताया कि उन दोषों के विकोपन को कैसे मिटाएं? आयुर्वेद में यत्र तत्र इसका यत्किंचित निर्देश है पर वह पर्याप्त नही है। अनेक ऐसी औषधियां बताई हैं, जिनसे ये दोष शांत होते हैं, इनका शमन होता है किंतु इनके सर्वांग निर्मूलन का उपाय आयुर्वेद के पास नही है।

अध्यात्म के द्वारा इन तीनों दोषों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्म के आचार्य ने कहा—

वातं विजयते ज्ञानं, दर्शनं पित्तवारणम्।
चरणं कफनाशाय, धर्मस्तेनामृतायते।।

—ज्ञान वायु के प्रकोप को शांत करता है, दर्शन पित्त के प्रकोप को शांत करता है और चारित्र कफ के प्रकोप को शांत करता है।

बड़ा अजीब लगता है कि कहां ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी और कहां बात, पित्त और कफ की त्रिपदी? कहां का संबंध जोड़ गया है? यही अध्यात्म की रहस्यवादी धारा है। रहस्यवादी धारा के संतों ने अध्यात्म को इतने रहस्यमय ढंग से प्रस्तुत किया है कि साधक उन रहस्य-सूत्रों को सहसा पकड़ नही पाता है। वे सूत्र बहुत अटपटे लगते हैं पर गहराई में जाकर देखने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पर वे यथार्थ प्रतीत होते हैं।

ज्ञान वायु पर विजय प्राप्त करता है। ज्ञान का कार्य है—मन को निष्काम बनाना। इच्छामुक्त बनाना—"भवेद्ज्ञानान्मनोऽनिच्छं।" जैसे-जैसे ज्ञान का विकास होगा वैसे-वैसे इच्छाएं समाप्त होती जाएंगी। इच्छायें जितनी तीव्र होती हैं, आदमी उतनी ही मात्रा में अज्ञानी होता है। ज्ञान और इच्छा दोनों का संगम नहीं हो सकता, दोनों साथ नहीं चल सकते। तीव्र आकांक्षा, तीव्र इच्छा अज्ञान का प्रथम लक्षण है। ज्ञान का जैसे ही विकास होगा, इच्छाएं अल्प होती जाएंगी। जहां इच्छाएं होंगी वहां काम, शोक और भय होगा। काम, शोक और भय—तीनों वायु को बढ़ाते हैं, प्रकम्पित करते हैं। क्या ज्ञान के द्वारा वायु का प्रकोप शांत किया जा सकता है? जब ज्ञान के द्वारा इच्छाओं को कम किया जा सकता है तो इच्छा से उत्पन्न होने वाले काम, शोक और भय को कम क्यों नहीं किया जा सकता? जब उनको कम किया जा सकता है तो उत्पन्न होने वाले वायु के विकोपन को कम क्यों नहीं किया जा सकता? कम किया जा सकता है। यह पूरी कार्य-कारण की श्रृंखला है।

दर्शन के द्वारा पित्त का प्रकोप शांत होता है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण खोज है। पित्त या क्रोध दृष्टिकोण/दर्शन के आधार पर होता है। पित्त का कार्य है—उत्तेजना पैदा करना। चंचलता और क्रोध पैदा करना। आवेश पैदा करना—ये सारे दृष्टिकोण के आधार पर होते हैं। गहराई में उतर कर देखने से पता चलेगा कि क्रोध का बहुत बड़ा कारण है—दृष्टिकोण। जिस व्यक्ति के प्रति दृष्टिकोण गलत बन जाता है तो उसके अच्छे कार्य के प्रति भी क्रोध आ जाएगा। जिसके प्रति दृष्टिकोण सही बना हुआ है, वह बड़ी गलती करता है, फिर भी उसके प्रति क्रोध नहीं आता। जिस सास का अपनी बहू के प्रति गलत दृष्टिकोण बन गया तो बहू के प्रत्येक कार्य में कोई न कोई त्रुटि दीख पड़ेगी। वह दृष्टिकोण उत्तेजना पैदा करता रहेगा। जिस पिता का अपने पुत्र के प्रति गलत दृष्टिकोण बन जाता है, तो पुत्र चाहे कितना ही अच्छा काम करे, पिता उस पर उत्तेजित होगा, उसमें दोष निकालेगा।

जब सम्यग दर्शन होता है, दृष्टिकोण सही होता है तब पित्त को उत्तेजित होने का अवसर ही नहीं मिलता। जिन लोगों के एसिडिटी अधिक बनती है, उन्हें ध्यान देना चाहिए कि कहीं उनका दृष्टिकोण गलत तो नहीं है। उन्हें यह आत्मालोचन करना चाहिए। एसिडिटी की अधिकता यह सूचित करती है—अवश्य ही दृष्टिकोण का दोष है। दृष्टिकोण के दोष को मिटाने पर संभव है एसिडिटी कम हो जाए। जब दृष्टिकोण सम्यग बन जाता है, आध्यात्मिक बन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जाता है, समतापूर्ण बन जाता है तब संभवतः पित्त का प्रकोप भी शांत हो जाता है और क्रोध भी नही आता।

महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत हुए हैं—संत नामदेव। बहुत बड़े साधक थे। वे इतने बड़े बैरागी थे कि यदि अनेक दिनों तक भोजन नहीं मिलता तो भोजन नहीं करते। एक बार कई दिनों से आटा मिल गया। वे रोटियां बनाने बैठे। रोटियां बनाकर रख दीं और कहीं इधर-उधर चले गए। इतने में ही कुत्ता आया और जो चार रोटियां बनी पड़ी थीं, उन्हें उठाकर ले भागा। इतने में ही संत नामदेव आ गए। उन्होंने देखा—कुत्ता सारी रोटियां ले जा रहा है। वे उसके पीछे दौड़े गुस्से में आकर नहीं, रोटियां छुड़ाने के लिए नहीं किंतु साथ में घी का बर्तन लेकर दौड़े और बोले—'अरे! कुत्ते भाई! रोटियां ले जा रहे हो, तो लूखी क्यों ले जा रहे हो? जरा ठहरो! मैं सारी रोटियां चुपड़ देता हूं।' संत नामदेव यह कह रहे थे पूर्ण प्रसन्नता के साथ, कहीं आवेश नहीं, अन्यथा भाव नहीं।

प्रश्न है क्रोध क्यों नहीं आया? इसका सीधा सा उत्तर है कि उनका दृष्टिकोण बदला हुआ था, पित्त का प्रकोप नहीं हुआ, इसीलिए क्रोध नहीं आया। पित्त का प्रकोप इसलिए नहीं हुआ कि उनका दृष्टिकोण पूर्ण आध्यात्मिक था, समतामय था। उन्होंने सोचा—मैं खाता हूं क्योंकि मैं प्राणी हूं। कुत्ता भी प्राणी है। उसे भी खाने का अधिकार है। प्राणी प्राणी में क्या अन्तर होता है?

जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यग हो जाता है, यथार्थ और सत्यपरक हो जाता है, उसमें पित्त के प्रकुपित होने की संभावना नहीं रहती। उसमें क्रोध नहीं उभरता। इस दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है—'दर्शनं पित्तवारणम्'—दर्शन पित्त का अवरोधक तत्त्व है।

कहा गया—'चरणं कफनाशाय'—चारित्र से कफ का प्रकोप शांत होता है। समता, अहिंसा और सत्य के आचरण से, प्रामाणिक व्यवहार से कफ का प्रशमन होता है। सुनने में यह भी बहुत दूर की बात लगती है। हो सकता है कि लिखने वाले आचार्य ने किस चिंतन के मूड में लिखा होगा? उनके सामने कौन-सी दृष्टि रही होगी। मैं उससे अनजान हूं। मैंने जो समझा है, वह मैंने प्रस्तुत किया है कि कफ का एक कार्य है—मूर्च्छा उत्पन्न करना। आयुर्वेद का यही सिद्धांत है कि कफ मूर्च्छा पैदा करता है। भ्रमों का उत्पन्न होना, चक्कर आना, चेतना का लुप्त हो जाना—यह सब कफ के प्रकोप से होता है। चारित्र-भ्रंश क्यों होता है? चारित्र की विकृति, आचरण और व्यवहार की अशुद्धि क्यों होती है? इनका सबका कारण है मोहनीयकर्म, मूर्च्छा। कर्मशास्त्र के अनुसार चारित्र में जितने विकार आते हैं, वे मोहनीय कर्म के कारण आते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मोहनीय कर्म मूढ़ता पैदा करता है, मूर्च्छा उत्पन्न करता है और चेतना की जागृति को लुप्त करता है। जब चेतना की जागृति समाप्त होती है, मूढ़ता और मूर्च्छा जागती है तब चारित्र विकृत होता है। जब चारित्र का विकास होता है तब जागृति का विकास होता है। मूर्च्छा समाप्त होती है। और जब मूर्च्छा समाप्त होती है तब कफ का प्रकोप नहीं होता, कफ कुछ भी काम नहीं कर सकता। कफ का कार्य है—जड़ता पैदा करना और चारित्र का काम है—चेतना की जागृति करना। चेतना की जागृति होने पर जड़ता टिक नहीं सकती। 'जाड्यं' कफ का खास लक्षण है। जब शरीर में कफ का प्रकोप बढ़ता है तब शरीर जकड़ जाता है, अकड़ जाता है, स्तब्ध हो जाता है। चेतना की जागृत्ति से स्तब्धता नष्ट हो जाती है।

तीन दोष हैं—वात, पित्त और कफ। इन तीनों को मिटाने के लिए तीन आध्यात्मिक उपाय हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। जब ये तीनों शारीरिक दोष उपशांत होते हैं तब स्वतः ही अशुद्ध भावधारा नीचे चली जाती है और शुद्ध भावधारा बहने लग जाती है।

ध्यान साधक का मुख्य उद्देश्य है कि शुद्ध भावधारा जागृत रहे, प्रवहमान रहे। श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, अन्तर्यात्रा—ये सब कुछ भावधारा को जागृत रखने के आलम्बन हैं।

एक साधक ने पूछा, क्या यह श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा आदि से अन्त तक यही है या कुछ और भी है?

मैंने कहा—न आदि है और न अन्त है, कुछ भी नहीं है? जब कुछ भी नहीं है तो क्यों कारवाई की जा रही है?

मैंने कहा—आदि और अन्त है वर्तमान क्षण में जीना। ध्यान का प्रथम सोपान भी है वर्तमान क्षण में जीना और ध्यान का अंतिम सोपान भी है, वर्तमान क्षण में जीना। वर्तमान क्षण ही महत्त्वपूर्ण क्षण है। जो वर्तमान क्षण में जीता है वह राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीता है। जो व्यक्ति केवल वर्तमान क्षण में जीता है, वर्तमान क्षण में घटित होने वाली घटनाओं का अनुभव करता है, वह केवल अनुभव करता है, ज्ञाता-द्रष्टा होता है। यही ध्यान का आदि बिंदु है, यही ध्यान का मध्य-बिंदु है और यही ध्यान का चरम बिंदु है। यही सब कुछ है।

अहिंसा का अर्थ है—राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीना।

सामायिक का अर्थ है—राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीना।

ध्यान का अर्थ है—राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वास्तव में अहिंसा, सामायिक और ध्यान में कोई अन्तर नहीं है। तीनों एक हैं। फिर प्रश्न आता है कि हमें केवल ध्यान ही क्यों कराया जा रहा है? हमें सामायिक का अनुष्ठान क्यों नही कराया जा रहा है? हमें अहिंसा का अनुष्ठान क्यों नहीं कराया जा रहा है? क्यों बार-बार श्वास दर्शन या शरीर दर्शन की बात कही जा रही है?

इसका उत्तर यही है कि इस सहारे के बिना वर्तमान क्षण का अनुभव नही हो सकता। जब तक हम किसी आलंबन के सहारे वर्तमान क्षण तक नहीं पहुंचते तब तक न अतीत से छुटकारा मिलता है और न भविष्य से छुटकारा मिलता है। कभी अतीत की स्मृति सताने लग जाती है, कभी भविष्य की कल्पना सताने लग जाती है, कभी वर्तमान का चिंतन सताने लग जाता है। हमने इन आलंबनों को इसलिए चुना है कि आदमी स्मृति, कल्पना और चिंतन के चक्र से बच सके। आलंबन भी शरीरगत है। वह शरीर में विद्यमान है। बाहर से कुछ भी नहीं लेना है।

एक भाई पहली बार ध्यान शिविर में आया। उसने पूछा—ध्यान के लिए क्या-क्या सामग्री अपेक्षित होती है? मैंने कहा—तुम्हारा शरीर चाहिए और कुछ नहीं। श्वास तुम्हारे साथ है, शरीर में होने वाले प्रकंपन तुम्हारे साथ हैं, चैतन्य केन्द्र तुम्हारे साथ हैं, लेश्याएं तुम्हारे साथ हैं। ध्यान के लिए केवल शरीर चाहिए। कपड़ा और रोटी शरीर के लिए चाहिए, ध्यान के लिए नहीं। ध्यान की सारी सामग्री शरीर में है। सारे आलंबन भीतर में हैं। बाहरी आलंबनों से जितना आंतरिक या रासायनिक परिवर्तन नहीं होता, उतना परिवर्तन इन भीतरी आलंबनों से हो जाता है। बाहरी आलंबनों का सहारा लेने वाला कभी-कभी कुछ सफल हो सकता है पर निरन्तर सफलता उसे नहीं मिलती। जो श्वास दर्शन का आलंबन लेता है, उसे पता ही नहीं होता कि चंचलता क्या होती है? जो चलते-फिरते, उठते-बैठते श्वास दर्शन का अभ्यास कर लेता है, वह चंचलता से मुक्त हो जाता है।

भारत के भूतपूर्व वित्तमंत्री सी. सुब्रह्मण्यम् ने प्रेक्षाध्यान सीखा। दो वर्षों के बाद मिले। उन्होंने कहा—अब तो मेरी स्थिति विचित्र बन गई है। जब कभी वायुयान में यात्रा करता हूं तो मैं देखता हूं—मेरे साथी पुस्तकें पढ़ते हैं, अखबार पढ़ते हैं, मेग्जीन्स् पढ़ते हैं, मैं कुछ नहीं पढ़ता। पुस्तकें साथ में रखनी ही छोड़ दी। जब भी, जहां भी बैठता हूं, श्वास पर ध्यान टिका देता हूं। मेरे साथी कहते—अरे! बैठे-बैठे क्या कर रहे हो? किताबें पढ़ो। मैं कहता हूं—'मुझे जो करना है, वह कर रहा हूं। मैं कभी बोर नहीं होता। मुझे पता ही नहीं होता कि पांच घंटे-सात घंटे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कैसे बीत जाते हैं। समय-बोध सीमित हो जाता है। ऐसा रासायनिक परिवर्तन होता है कि बाहर की स्थिति का बोध भी कम होने लग जाता है।'

इन आलंबनों से हमारी चंचलताएं कम होने लग जाती हैं। हम इन आलंबनों का मूल्य समझें, आलंबनों के द्वारा जो प्राप्य है, उसे प्राप्त करें। वर्तमान क्षण में जीने का अभ्यास जीवन की सफलता का मूल मंत्र है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मनोभाव कैसे जानें?

मानिसक समस्याएं अनेक हैं। अनेक प्रयत्नों के उपरान्त भी उनका समाधान नहीं हो रहा है। कारण की मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि समस्या का होना प्रकृति या नियति को मान्य है और इसीलिए मान्य है कि हम दो प्रकार के जगत में जी रहे हैं। एक है स्पष्टता का जगत और दूसरा है अस्पष्टता का जगत। प्रत्यक्ष जगत और परोक्ष जगत।

परोक्ष जगत समस्याओं का उद्भावक है क्योंकि उस पर अनेक आवरण हैं। कोई भी तथ्य इतना स्पष्ट नही है कि प्रत्येक आदमी उसको समझ ले। समस्या का सबसे बड़ा समाधान है—प्रत्यक्ष। इसीलिए अध्यात्म के आचार्यों ने साक्षात्कार को सर्वोपरि महत्त्व दिया। उन्होंने केवलज्ञान को प्रत्यक्ष का चरम बिन्दु माना। केवलज्ञान होने पर, सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। उसमें कोई व्यवधान या तिरोधान नहीं होता, सब कुछ साक्षात हो जाता है। समस्या का समाधान सबसे बड़ा सूत्र है—स्पष्टता, प्रत्यक्ष, साक्षात्कार। किन्तु हम जिस जीवन में जी रहे हैं, वह अस्पष्टताओं का जीवन है, परोक्ष का जीवन है। हमारे कर्म, भाव और भाव से उत्पन्न होने वाले रसायन—तीनों हमारे लिए अस्पष्ट हैं। हम कर्मों को नहीं जानते, क्योंकि वे भी बहुत सूक्ष्म हैं। हम भाव के द्वारा इस स्थूल शरीर में उत्पन्न होने वाले रसायनों को भी नहीं जानते। कर्म, भाव और रसायन—तीनों परोक्ष हैं। हमारे प्रत्यक्ष केवल एक विचार है और उसमें उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति है।

विचार और आचरण या व्यवहार—ये दो स्पष्ट हैं, प्रत्यक्ष हैं। किन्तु विचार, आचार और व्यवहार के पीछे काम करने वाले तीन तत्त्व—रसायन, भाव और कर्म—ये बिलकुल अस्पष्ट हैं, परोक्ष हैं, पर्दे के पीछे हैं। इस स्थिति में समस्या का समाधान कैसे हो? आधी स्पष्टता है और आधी अस्पष्टता है। पचास पचास प्रतिशत है। यही उलझन का आदि बिन्दु है। जब तक पूरी स्पष्टता नहीं होती तब तक उलझन मिटती नहीं। कल्पना चलती है, सन्देह उभरते हैं और उलझन अधिक गहरी हो जाती है। उलझन का अन्त आता है स्पष्टता में।

हमारी सबसे बड़ी समस्या है--अस्पष्टता। हम स्वयं अपने आप में भी स्पष्ट नहीं हैं और इसीलिए नहीं हैं कि हमारे सामने जगत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का पूरा चित्र नही है।

कन्फ्यूशियस से पूछा गया—सेना में अनिवार्य भर्ती हो रही है और तुम इस अवसर पर लंगड़ाने लगे हो, चोटग्रस्त हो गए हो, यह अच्छा हुआ, अन्यथा तुम्हें भी सेना में भर्ती होना पड़ता।

कन्फ्यूशियस ने कहा—मैं नहीं कह सकता कि अच्छा हुआ या बुरा हुआ, क्योंकि पूरा चित्र मेरे सामने नहीं है।

जब तक पूरा चित्र सामने नहीं होता, तब तक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हमारे सामने पूरा चित्र नही है। हम जिस आधार पर आचरण और व्यवहार करते हैं, वह आधार है—विचार। विचार उत्पन्न होता है और आदमी उसी के अनुसार आचरण और व्यवहार करता है। किन्तु उस विचार के पीछे, आचरण के पीछे जो है, उसका हमें पता नहीं है।

आज का विज्ञान कहता है कि आचरण और व्यवहार के पीछे रसायन काम करता है। एक आदमी आक्रमण करता है। रसायन उसका मूल कारण है। एक घटना घटती है और आदमी चिंता में निमग्न हो जाता है। घटना के साथ चिन्ता का कोई साक्षात संबंध नही है। चिन्ता का सीधा संबंध है रसायन के साथ। एक रसायन पैदा होता है और आदमी चिन्ता में डूब जाता है। एक रसायन पैदा होता है और आदमी डर से कांपने लग जाता है। प्रत्येक आचरण और व्यवहार का अपना रसायन होता है, केमिकल होता है। वह आदमी को उस प्रकार के आचरण और व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। तरंग शास्त्रीय संदर्भ में जब इस विषय पर सोचता हूं तो पता लगता है कि संभवतः वैज्ञानिकों ने अभी पूरे रसायनों की खोज नहीं की है, नहीं कर पाए हैं। किन्तु कर्मशास्त्रीय खोजों के अनुसार हमारे शरीर में उतने रसायनों के प्रकार हैं, जितने कर्म के प्रकार हैं। प्रत्येक घटना रसायन के साथ जुड़ी हुई है और प्रत्येक रसायन कर्म के साथ जुड़ा हुआ है। एक श्रृंखला है—कर्म, भाव और रसायन। 'कर्मतो जायते भावः भावात् कर्माऽपि सर्वदा।'—कर्म से भाव पैदा होते हैं और भाव से कर्म पैदा होते हैं। कर्म का यहां अर्थ कार्य या क्रिया नहीं है। यह पौद्गलिक अनुबंध है, जो क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे साथ जुड़ता है। क्रिया का प्रतिबिम्बन या अंकन होता है और वह हमारे मस्तिष्क से जुड़ता है। यह स्थूल मस्तिष्क का अंकन बहुत स्थूल होता है किन्तु सूक्ष्म चेतना के साथ अनुबंधित हो जाता है।

मनोविज्ञान की भाषा में हम जागृत चेतना—कोन्सियस माइन्ड—के स्तर पर जी रहे हैं। उसके पीछे है अवचेतन और अचेतन माइन्ड का स्तर सब्कोन्सियस और अन-कोन्सियस माइन्ड। उससे हम अजान हैं। हमारी बहुत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सारी प्रवृत्तियां अचेतन मन के द्वारा प्रेरित होती हैं, किन्तु हमें ज्ञात नही है कि अचेतन में क्या-क्या है? हमारी प्रत्येक क्रिया का प्रतिबिम्बन अचेतन मन तक चला जाता है। फिर उसकी प्रतिक्रिया होती है और व्यक्ति की अभिव्यक्ति होती है। क्या समस्या के समाधान में यह बहुत बड़ी बाधा नहीं है? यह दोहरा व्यक्तित्व/विभाजित व्यक्तित्व बहुत बड़ी बाधा है। हम दो व्यक्तित्वों में जीते हैं—एक है बाहरी व्यक्तित्व और दूसरा है भीतरी व्यक्तित्व, आन्तरिक व्यक्तित्व। बाहरी व्यक्तित्व का एक रूप है और आंतरिक व्यक्तित्व का दूसरा रूप है। यह सबसे बड़ी समस्या है। जब तक इस समस्या का समाधान नहीं हो जाता, तब तक कैसे संभव है कि मानसिक समस्या का समाधान हो जाए? कैसे संभव है कि मानसिक शांति प्राप्त हो और अशांति का चक्र समाप्त हो? सबसे पहले हमें अपने व्यक्तित्व को एकत्व या अद्वैत में बदलना होगा। व्यक्तित्व अखंड और एक बन जाए, सारे खंड समाप्त हो जाएं, सारे आवरण मिट जाएं। महिलाएं ही आवरण या पर्दे में नही होती। कौन ऐसा पुरुष है जिसके पर्दा नही है? सब पर्दो के पीछे बैठे हैं। ये सारे पर्दे समाप्त हो जाएं और आर-पार प्रत्यक्ष हो जाएं। यही अखंड व्यक्तित्व है। आर-पार शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। आर नदी का एक तट है और पार नदी का दूसरा तट है। पुलों का निर्माण इसीलिए हुआ कि व्यक्ति आर-पार जा सके। जब केवल आर का दर्शन होता है और पार का दर्शन नहीं होता तो बात अधूरी रह जाती है।

हमारा व्यक्तित्व आर-पारदर्शी बन जाए तो वह अखंड व्यक्तित्व माना जाता है। वह इधर को भी देख सके और उधर को भी देख सके। वह विचार, आचार और व्यवहार—इन तीनों स्थूल तत्त्वों को भी देखे। कर्म, भाव और रसायन—इन तीन सूक्ष्म तत्त्वों को भी देखे। स्थूल 'आर' है और सूक्ष्म 'पार' है। जो आर-पारदर्शी होगा वह स्थूल को भी देखेगा और सूक्ष्म को भी देखेगा। इन दोनों—स्थूल और सूक्ष्म अर्थात छहों तत्त्वों के बीच कोई आवरण न हो। इस स्थिति में मानसिक समस्या समाहित हो सकती है।

प्रश्न होता है, क्या ऐसा होना संभव है? क्या यह शक्य अनुष्ठान है? असंभव जैसा कुछ है ही नहीं। यदि सम्यक उपादान, सम्यक निमित्त और सम्यक सामग्री उपलब्ध हो जाए तो असंभव कुछ नहीं होता और यदि इन तीनों का योग नहीं मिलता है तो छोटे से छोटा कार्य भी असंभव बन जाता है। जिस व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि जाग जाती है, उसके लिए सब संभव है और जिसकी यह दृष्टि नहीं जागती, उसके लिए सब असम्भव है।

एक घटना है। आचार्य भिक्षु के दो शिष्य पानी की भिक्षा लाने के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लिए गए। सारे गांव में घूमे, पर कहीं प्रासुक पानी नहीं मिला। घूमते-घूमते वे एक किसान के घर में गए। उसके वहां प्रासुक पानी था। मुनि ने पानी की याचना की। बहिन बोली—महाराज! पानी तो शुद्ध है, प्रासुक है, पर मैं इसे नहीं दूंगी। मुनि ने कहा—बहिन! क्यों? उसने कहा—महाराज! मैंने संतों से ही सुना है कि जो जैसा देता है, वह वैसा ही पाता है। यदि मैं आप जैसे संतों को यह धोवन/राख या गोबर का पानी दूं तो मुझे अगले जन्म में ऐसा ही पानी पीने को मिलेगा। मैं ऐसा पानी पी नहीं सकती। इसलिए मैं ऐसा पानी नहीं दूंगी। आप चाहें तो कुएं का ताजा पानी ले लें। मुनियों ने उसे समझाया, पर वह नहीं समझी। मुनि बिना पानी लिए स्थान पर आ गए।

उन्होंने सारी घटना आचार्य भिक्षु के सामने रखी। बहिन के तर्क भी रख दिए। आचार्य भिक्षु बोले—चलो, मैं चलता हूं। आचार्य भिक्षु ने पानी की याचना की। बहिन पहले वाले तर्क के आधार पर पानी देने से इन्कार हो गई। आचार्य भिक्षु बोले—बहिन! गाय रखती हो?

हां महाराज! तीन गायें हैं।

उन्हें क्या खिलाती हो?

घास-फूस-चारा खिलाती हूं।

गायों से क्या मिलता है?

महाराज! अमृत जैसा दूध मिलता है।

अरे बहिन! खिलाती हो घास और मिलता है दूध! तो क्या साधु को शुद्ध दान देने से अमृत नहीं मिलेगा?

बहिन समझ गई। उसने सारा पानी संतों के पात्रों में उंडेल दिया।

जब अन्तर्प्रज्ञा जागी हुई होती है, तब कठिन बात भी सरल बन जाती है। प्रज्ञा जागी हुई नहीं होती है तो सरल बात भी कठिन, कठिनतर बन जाती है। प्रज्ञा के अभाव में छोटी-सी समस्या भी पहाड़ जैसी बन जाती है। पारिवारिक या सामुदायिक जीवन की समस्याएं बहुत बड़ी नहीं होतीं, बहुत छोटी होती हैं, पर वे प्रज्ञा या अन्तर्दृष्टि के अभाव में बहुत बड़ी बन जाती हैं कि उनका समाधान पूरे जीवन में भी नहीं हो पाता। 'मैं औरों के साथ भोजन कर सकता हूं पर भाई के साथ भोजन नहीं कर सकता। मैं पड़ोसी को प्रेम दे सकता हूं पर अपने बेटे को प्रेम की दृष्टि से नहीं देख सकता।' ये बातें परिवारों में होती हैं। इनका कारण छोटा होता है पर पकड़ इतनी गहरी हो जाती है कि जीवन भर वह नहीं छूटती। यह सारा अन्तर प्रज्ञा के अभाव में होता है। जिस व्यक्ति का प्रज्ञाचक्षु उद्घाटित हो जाता है, उसके लिए समस्या समस्या नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

रहती, बड़ी छोटी का तो प्रश्न ही क्या?

ध्यान की सारी साधना प्रत्यक्षीकरण की साधना है। ध्यान के द्वारा हम परोक्ष भावों को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया में केवल श्वास का साक्षात्कार ही नहीं होता, अपने शरीर के प्रकंपनों और विद्युत हलन-चलन का ही साक्षात्कार नहीं होता किन्तु अभ्यास करते-करते हमारी एकाग्रता इतनी गहरी बन जाती है कि रसायनों का भी साक्षात्कार हो जाता है। भाव का भी साक्षात्कार हो जाता है और भाव को उत्पन्न करने वाले कर्म संस्कारों का भी साक्षात्कार हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया साक्षात्कार की प्रक्रिया है।

प्रारम्भ में लोग उलझ जाते हैं। वे पूछते हैं कि श्वास के साक्षात्कार से अथवा प्रकंपनों और रंगों के साक्षात्कार से क्या होना जाना है? हम कोई मन्त्र जाप करें, इष्ट का स्मरण करें तो लाभ हो सकता है।

हम मूल बात को भूल जाते हैं। श्वास, प्रकंपन या रंग के साक्षात्कार की बात बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात या मुख्य बात है कि उनका साक्षात्कार करने वाली हमारी एकाग्रता की शक्ति विकसित हो जाए। जब तक एकाग्रता की शक्ति का विकास नहीं होता, तब तक परमात्मा का ध्यान या मंत्र जप करने बैठेंगे तो मन भी चक्कर लगाएगा और बेचारा परमात्मा एक ओर खड़ा रह जाएगा। मन कहीं चक्कर लगाता रहेगा और मंत्र बेचारा कहीं चला जाएगा। मूल प्रश्न परमात्मा, आत्मा या मंत्र-जाप का नहीं है, मूल प्रश्न है कि हमारा मन कितना शिक्षित हुआ है? हमारा मन हमारी भावनाओं का आदर करता है या नहीं? वह हमारे वश में है या नहीं? यदि मन ही वश में नहीं है तो क्या निष्पत्ति होगी? सबसे पहले मन को मनाना है। मन इतना मानने लग जाए कि हम उसका जहां उपयोग करना चाहें, वह सहर्ष वहां उपयुक्त हो जाए। कौन कहता है कि परमात्मा या आत्मा का ध्यान मत करो? कौन कहता है कि मंत्र-जाप न करें? अवश्य करें, पर इस ऊर्ध्वगमन के पहले सोपान को न भूलें। आत्मा का ध्यान, परमात्मा की उपासना, मन्त्र-जाप यह पहला सोपान नहीं है। पहला सोपान है—मन को समझना, मन पर अधिकार पा लेना, मन को वश में कर लेना। जब हम पहले सोपान पर सफल हो जाते हैं तब ऊर्ध्वारोहण सफल बन जाता है। उसमें कोई विघ्न नहीं आता। आगे की यात्रा निर्विघ्न हो जाती है। यदि पहले सोपान या पड़ाव पर ही भटक गए, मार्गच्युत हो गए तो मंजिल कभी नहीं मिल सकती। पहले पड़ाव या पहले सोपान का बहुत मूल्य है। अनेक व्यक्ति बीसों वर्षों से उपासना करते हैं, मंत्र जाप करते हैं, किंतु कहीं पहुंच नहीं पाते। एक बैंक मैनेजर ने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बताया कि वह दस वर्षों से निरन्तर ध्यान कर रहा है, पर मन वैसे ही भटकता है जैसे पहले भटकता था। कोई अन्तर नहीं आया है। मैंने कहा—दस क्या, उस पर एक शून्य और लगा दो, सौ वर्ष तक भी ध्यान करते रहोगे, फिर भी कहीं नहीं पहुंच पाओगे। क्योंकि बिना किसी पद्धति या मार्ग के मन स्थिर नहीं हो सकता। हमें एक निश्चित प्रक्रिया से गुजरना होगा, तभी सफलता मिल सकती है। जब तक चाबी हाथ नहीं आएगी तब तक भटकाव नहीं मिटेगा। हम इस तथ्य को हृदयंगम करें कि श्वास-दर्शन, शरीर दर्शन और चक्र दर्शन का अपना मूल्य है। किन्तु उससे ज्यादा मूल्य इस बात का है कि हम एकाग्रता की शक्ति को कितना विकसित कर पाते हैं? यह बहुत मूल्यवान बात है। जब यह शक्ति प्राप्त हो जाती है तब हम अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकते हैं और किसी भी बंद द्वार को खोल सकते हैं।

परोक्ष और प्रत्यक्ष की दूरी को मिटाने के लिए एकाग्रता के साथ-साथ आत्म-संयम का विकास भी अत्यन्त अपेक्षित है। यदि ध्यान-साधक आत्म-संयम का विकास नहीं करता तो वह दूरी को कभी मिटा नहीं सकता। जब तक व्यवहार, आचरण और इच्छा पर नियंत्रण नहीं सधता, तब तक संभव नहीं है कि यह दूरी मिट सके और हम परोक्ष को प्रत्यक्ष बना सकें। जिसमें आत्म-संयम नहीं होता, उसके मन में इतना कुतूहल, इतनी आकांक्षा, इतनी उत्सुकता, इतनी लालसा रहती है कि वह कहीं एक बिंदु पर नहीं टिक पाता। इतना असंयम होता है कि पैर रास्ते पर नहीं चलते, ऊबड़-खाबड़ चलते हैं। रेल पटरी पर चलती है तो निश्चित ही गंतव्य तक पहुंच जाती है। यदि वह पटरी से नीचे उतर जाए तो क्या होता है? मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह संयम की मर्यादा में चले। वह अपने पर नियंत्रण रखे। मन इतना अनियंत्रित न हो जाए कि जब चाहे तब जो चाहे सो कर डाले। आदमी में यह विवेक होना चाहिए और नियंत्रण की यह शक्ति होनी चाहिए कि वह जो कार्य जब चाहे तब कर सके। मन दौड़े नहीं, वह वश में रहे।

मिस्र की एक घटना है। वहां के एक प्रसिद्ध साधक थे जूनूसूपी। बहुत पहुंचे हुए साधक। उनके पास एक शिष्य धर्म की दीक्षा लेने के लिए आया। प्राचीन काल में शिष्य की कड़ी कसौटियां होती थीं। साधक ने नवागन्तुक शिष्य से कहा—धर्म की दीक्षा लेने आए हो? अभी यहां रहो। वह रह गया। वह शिष्य था युसूफ हुसेन, जो आज प्रसिद्ध महात्मा के रूप में विख्यात हैं। गुरु ने कहा—सेवा करते रहो और यहीं रहो। चार वर्ष बाद प्रयोग बताएंगे। चार वर्ष पूरे हुए। एक दिन गुरु ने शिष्य को बुलाकर कहा—नील नदी के किनारे मेरा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एक मित्र रहता है। उसको यह सन्दूक दे आओ। शिष्य युसूफ उस सन्दूक को उठा, नील नदी की ओर चला। रास्ते में उसके मन में एक विकल्प उठा—'सन्दूक में क्या है, देख लेना चाहिए।' फिर सोचा, कुछ भी हो मुझे क्या? आगे चला फिर वही विकल्प उठा—सन्दूक को खोलकर देख लेना चाहिए। अब वह अपने पर काबू नहीं रख सका। उसने सन्दूक नीचे रखी और उसका ढक्कन खोला। उसमें एक चूहा था। ढक्कन खुलते ही चूहा बाहर कूद पड़ा और चला गया। उसने कहा—कोई बात नहीं, चूहा था भाग गया। वह नील नदी के तट पर पहुंचा। वहीं गुरु का मित्र रहता था। उसने कुटीर में जाकर कहा—गुरु जूनू ने यह सन्दूक भेजी है, इसे स्वीकार करें। मित्र ने उस सन्दूक को खोलकर देखा तो पता लगा कि वह खाली है। वह भी पहुंचा हुआ साधक था। उसने कहा—'युसूफ! अभी तुम्हें धर्म की दीक्षा नहीं मिलेगी।' युसूफ ने व्याकुलता से कहा—'क्यों नहीं मिलेगी? मेरे धर्म को जानने की प्रबल आकांक्षा है।' साधक मित्र ने कहा—यूसूफ! अभी तुम्हारा आत्म-संयम सधा नहीं है। तुमने सन्दूक खोली। उसमें चूहा था, वह भाग गया। जो व्यक्ति एक चूहे की रक्षा नहीं कर पाता, वह आत्मा की रक्षा कैसे कर पाएगा? अभी तुम्हें धर्म की दीक्षा कैसे मिलेगी? पहले तुम आत्म-संयम को साधो, फिर धर्म में दीक्षित होना।

युसूफ घर चला गया। आत्म-संयम की साधना की। कई वर्षों तक साधना करता रहा। फिर वह जूनूसूपी के पास आया और तब गुरु ने उसे धर्म में दीक्षित कर लिया।

जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों, इच्छाओं और आकांक्षाओं पर नियंत्रण नहीं रख सकता, वह परोक्ष और प्रत्यक्ष की दूरी को कैसे मिटा सकता है? वह सूक्ष्म भावों का साक्षात्कार कैसे कर सकता है? बहुत कठिन बात है।

आज सभी लोग मानसिक समस्याओं को मिटाने के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। सब चाहते हैं कि मन की शांति (पीस ऑफ माइंड) बनी रहे। कोई भी अशांत रहना नहीं चाहता। वह सीधा समाधान चाहता है। किन्तु यह तब तक संभव नहीं है, जब तक एकाग्रता की शक्ति का विकास नहीं हो जाता, आत्म संयम नहीं सध जाता। क्या मादक द्रव्यों या औषधियों से मानसिक शांति मिल सकती है? यदि ऐसा संभव होता तो आज विकसित देश पूर्ण मानसिक शांति में होते। उनमें तनाव नहीं होता। वे अरबों-खरबों की गोलियों का निर्माण करते हैं, उनका सेवन करते हैं और पागल भी होते हैं। उनके पास न धन की कमी है, न पदार्थों की कमी है और न वैज्ञानिक अन्वेषणों की कमी है, तो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साथ-साथ मानसिक उलझनों की कमी भी नहीं है।

प्रश्न है—क्या आदमी सचमुच उलझनों को मिटाना चाहता है या वह केवल नाटक ही कर रहा है? मन की अनेक छलनाएं होती हैं। मन आदमी को छल लेता है। प्रत्येक आदमी नाटक करना जानता है क्योंकि उसका मन छलनाओं से भरा पड़ा है।

एक परिवार था। घर के स्वामी का एक मित्र आया। उसकी बहुत आव-भगत की। वह जम गया। महीने बीत गये। वह जाने का नाम नहीं ले रहा था। पत्नी ने एक दिन पति से कहा--आपका मित्र तो यहीं टिक गया। जाने की बात ही नहीं कर रहा है। पति बोला—हमें एक नाटक रचना होगा, उससे वह चला जाएगा। एक दिन दोनों ने एक नाटक रचा। पति लाठी लेकर पत्नी को मारने लगा। और पत्नी जोर-जोर से चिल्लाने लगी। एक घंटा तक यह क्रम चलता रहा। वह चिल्ला रही थी, मैं रसोई नहीं करूंगी, मैं कपड़े नहीं धोऊंगी, मैं साफ-सफाई नहीं करूंगी। दोनों यह नाटक खेलते-खलते घर से बाहर आ गये।

आगन्तुक अतिथि भी नाटक खेलने में निपुण था। उसने सोचा, यह सब नाटक मेरे लिए खेला जा रहा है। उसने भी अपनी व्यवस्था कर ली।

कुछ समय बीता। पति-पत्नी दोनों घर में आए। उन्होंने देखा कि मित्र अतिथि वहां नहीं है, वह चला गया है। वे राजी हुए। पति ने कहा—देखो, मेरा नाटक कैसा रहा? इतनी जोर से लाठियां बजाई पर तुम्हारे एक भी चोट नहीं आने दी। पत्नी बोली—मैं भी घंटा भर जोर-जोर से चिल्लाती रही, पर आंखों में एक भी आंसू नहीं आया।

इतने में खाट के नीचे से वह मित्र अतिथि निकल कर बोला—देखो, मेरा नाटक भी कितना सफल रहा। इतनी तेज लड़ाई होने पर भी मैं घर से नहीं निकला।

हर जगह नाटक खेला जा रहा है। अभिनय किया जा रहा है। हमारा मन भी अनोखा अभिनेता है। वह अनेक प्रकार का अभिनय करता है। आदमी उन अभिनयों को समझ नहीं पाता। मन का यह अभिनय तब तक नहीं रुक सकता जब तक हम एकाग्रता की शक्ति का विकास नहीं कर लें। एकाग्रता की शक्ति का विकास हो सकता है यदि आदमी सही प्रक्रिया को अपना कर चले। सही मार्ग पर चलने से सफलता अवश्य मिलती है।

ध्यान उसकी सही दिशा और यथार्थ मार्ग है। जब चित्त की शक्ति केन्द्रित हो जाती है, प्रगाढ़ बन जाती है, तरलता मिट जाती है, तब बाहर के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मिश्रण उसमें विकृति पैदा नहीं कर सकते। पानी तरल है। उसमें प्रत्येक चीज मिश्रित हो जाती है, घुल जाती है। पानी को प्रगाढ़ कर दिया, पानी को बर्फ बना दिया, उसमें अब कुछ भी घुलमिल नहीं सकता। बर्फ गंदी नहीं बनती। हमारे चित्त की भी यही स्थिति है। जब तक वह तरल होता है, तब तक वह बाहर के प्रभाव से प्रभावित होता है, चेतना गंदली बनती जाती है। जब चित्त प्रगाढ़ बन जाता है, बर्फ जैसा ठोस बन जाता है, तब वह बाहर के प्रभाव से अप्रभावित रहता है। ऐसी स्थिति में उस चित्त वाले व्यक्ति को गाली दो, पीटो, बुरा भला कहो, वह उनसे प्रभावित नहीं होगा। वे बातें आएंगी, स्पर्श कर नीचे लुढ़क जाएंगी। उनका कोई असर ही नहीं होगा। ये सारे प्रभाव हम अपनी चंचलता के कारण स्वीकार कर रहे हैं। बड़ी विचित्र स्थिति है। एक ओर हम अपने चित्त को चंचल या तरल रखना चाहते हैं, दूसरी ओर मानसिक समस्याओं और उलझनों से बचना भी चाहते हैं। ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। दो मार्गों पर एक साथ नहीं चला जा सकता। दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं की जा सकती। हमें चुनाव करना होगा। या तो हमें मानसिक उलझनों का जीवन जीना होगा या मानसिक उलझनों को सामप्त कर मानसिक शांति का जीवन प्राप्त करना होगा। यदि हमें उलझनों का रास्ता चुनना हो तो वह तैयार है और यदि हमें शांति का रास्ता चुनना है तो वह भी उपलब्ध है।

शांति को प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग है—परोक्ष और प्रत्यक्ष दूरी को समाप्त करने का, सूक्ष्म जगत को समझने का अभ्यास करना, शरीरगत रसायनों को समझना और आंतरिक भावों से परिचित होना। यही शांति का मार्ग है। भावों को पढ़ना बहुत जरूरी है। कुछेक व्यक्ति पूछते हैं—'मेरे मन में यह विकृति या दोष क्यों उभरा? मैं कभी इस दिशा में सोचता ही नहीं, फिर यह विचार क्यों आया?'

मैं कहता हूं यह आकस्मिक नहीं है। भीतर कारण विद्यमान है। वही इस विकृति को पैदा कर रहा है। आकस्मिक इसलिए मान लेते हैं कि हम भीतर से परिचित नहीं हैं। भाव तन्त्र में बुरा भाव जागा और उसमें बुरा विचार बना। हम पकड़ते हैं केवल विचार को। बेचारे विचार ने क्या बिगाड़ा? उसका उत्पादक तो कोई दूसरा है, जो बहुत गहरे में बैठा है। विचार का मतलब है गतिशीलता। विचार आता है और चला जाता है। फिर आता है और चला जाता है। विचार का अर्थ ही है—विचरण करने वाला। चलने वाला होता है विचार। ठीक शब्द का चुनाव हुआ है—विचार। संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि शब्द और अर्थ—दोनों साथ-साथ चलते हैं। चिन्तन शब्द में वह सामंजस्य नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, पर विचार शब्द में वह सामंजस्य है। विचार विचरण, आना-जाना। विचार का कोई दोष नहीं है। न आचरण का दोष है, न व्यवहार का दोष है और न मन का दोष है। दोष भीतर से आता रहा है। वहां तक हमारी पहुंच नहीं है, इसलिए बाहर से उलझ जाते हैं।

इन सारी उलझनों का मूलस्पर्शी समाधान पाने के लिए हमें गहराई में उतरना होगा और गहराई में उतरने के लिए हमें एकाग्रता और आत्मसंयम का विकास करना होगा। एकाग्रता और आत्मसंयम ध्यान से सध सकता है। ध्यान का अभ्यास केवल आध्यात्मिक जीवन को उपलब्ध कराने वाला या मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने वाला ही नहीं है। यह जीवन की सारी सफलताओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने वाला भी है। यह सफल जीवन जीने की कला है। जो व्यक्ति अपने अन्तर की गहराई का अनुभव नहीं करता, एकाग्रता और आत्म-संयम करना नहीं जानता, वह कभी अपने जीवन में शांति को उपलब्ध नहीं हो सकता। मानसिक शांति का मूल-मंत्र है—ध्यान।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मनोभाव की प्रक्रिया : भाव वशीकरण की प्रक्रिया

जितनी सचाइयां ज्ञात हुई हैं, वे सब निरीक्षण के द्वारा ही ज्ञात हुई हैं। निरीक्षण चाहे अन्तःप्रज्ञा से हो अथवा सूक्ष्मतम वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा हो। निरीक्षण के साधन भिन्न हो सकते हैं किन्तु निरीक्षण का स्वरूप भिन्न नहीं है। सूक्ष्म सत्यों को, आवृत सत्यों को देखना आवश्यक है क्योंकि उन्हें देखे बिना विकास की संभावना नहीं की जा सकती। कुछ भी विकास या परिवर्तन करना है तो सबसे पहले सत्य का निरीक्षण करना होगा।

ध्यान की साधना करने वाला आत्म-निरीक्षण करता है, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता है। अपने आपको देखना बहुत कठिन कार्य है। समस्याओं से भरा हुआ कार्य है। और यह इसलिए है कि प्रत्येक आदमी अन्तर्द्वन्द्व का जीवन जी रहा है। मनोविज्ञान ने यह स्पष्ट प्रतिपादन किया—व्यक्तियों के मस्तिष्क में व्यक्तित्व की दो परतें होती हैं। डुएल पर्सनेलिटी वाले व्यक्ति अधिक मिलते हैं वे अन्तर्द्वन्द्व का जीवन जीते हैं। किंतु अध्यात्म के क्षेत्र में हजारों वर्ष पूर्व कर्मशास्त्र ने इस विषय का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। हमारी कठिनाई यह है कि हम अध्यात्म की भाषा नहीं जानते। हम आज की भाषा से परिचित हैं। अध्यात्म की भाषा बिलकुल विस्मृत हो गई है। हम अध्यात्म की चर्चा करते हैं पर उसकी भाषा नहीं जानते। भाषा को जानने से अनेक अनर्थ घटित हो जाते हैं। व्यवहार में भी हमें इनका अनुभव होता है।

एक घटना है। एक अंग्रेज मद्रास में गया। वह रिक्शे में बैठकर जा रहा था। एक बड़े मकान को देखकर उसने रिक्शा-चालक से पूछा—हू कन्स्ट्रक्टेड दिस बिल्डिंग? 'इस मकान को किसने बनाया?' रिक्शा चालक अंग्रेजी नहीं जानता था। उसने तमिल भाषा में कहा—'तेरीयाद' मुझे पता नहीं। अंग्रेज ने कहा—तेरीयाद ठीक है। आगे चला, हाईकोर्ट का नया मकान आया। अंग्रेज ने फिर पूछा—हू कन्स्ट्रक्टेड दिस बिल्डिंग? उसने वही उत्तर दिया—तेरीयाद। थोड़ी दूर बढ़ा और देखा कि एक शवयात्रा आ रही है, अनेक लोग साथ हैं। अंग्रेज ने पूछा—हू डाइड! कौन मर गया? रिक्शा चालक बोला—तेरीयाद—मैं नहीं जानता? तत्काल अंग्रेज रिक्शे से नीचे उतरा और अपना टोप उतारते हुए बोला—आई बो माई हेट इन रेस्पेक्ट ऑफ तेरीयाद—मैं तेरीयाद के सम्मान में अपना सिर झुकाता हूं। ही इज रियली ए ग्रेट मेन, हू हेज कन्स्ट्रक्टेड सच ह्यूज

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बिल्डिंग—वह व्यक्ति (तेरीयाद) निश्चित ही बड़ा आदमी है, जिसने इतने बड़े मकानों का निर्माण किया है।

यहां का अर्थ कहां चला गया? अंग्रेज ने सोचा—क्या सारा मद्रास तेरीयाद का ही है? जहां जाता हूं पूछता हूं 'तेरीयाद, तेरीयाद' शब्द ही सुनाई देता है। निश्चित ही 'तेरीयाद' एक महान व्यक्ति रहा है।

हम भी अध्यात्म की भाषा को नही जानते। उसको भूल बैठे हैं। आज अध्यात्म और धर्म की चर्चा करने वाला व्यक्ति कुछेक स्थूल बातों को पकड़कर आध्यात्मिक या धार्मिक बन बैठा है। अध्यात्म के सारे रहस्य विस्मृत हो चुके हैं। वह न अध्यात्म की भाषा को जानता है और न सचाइयों को जानता है। जब तक अध्यात्म की भाषा को नहीं समझा जायेगा तब तक भाव परिवर्तन की प्रक्रिया अथवा भाव-वशीकरण की प्रक्रिया को कैसे समझा जा सकेगा।

जिस दिन वैज्ञानिक जगत में कोशिका की घोषणा हुई, उसके रहस्यों को जाना गया तब लोगों को आश्चर्य हुआ कि कितनी सूक्ष्म बात जान ली गई है। निरन्तर गति होती गई और आज कोशिका की बात स्थूल बन गई। वैज्ञानिक लोग 'जीन' तक पहुंच गये हैं। कोशिका के घटकों की जानकारी हुई है और आगे भी ज्ञात किया जा रहा है। आज आनुवंशिकता, हेरेडिटी, संस्कार आदि के जो संवाहक सूत्र हैं, उनकी विशद जानकारी प्राप्त की गई है। जेनेटिक इन्जीनियरिंग के क्षेत्र में बहुत काम हो रहा है। पौधों की तरह आदमी की 'कलम' लगाने की बात सोची जा रही है। जैसे पशुओं और वनस्पति की नस्लें सुधारी जाती हैं, वैसे ही आदमी की नस्ल सुधारने का वैज्ञानिक प्रयत्न भी बराबर चल रहा है। इस विज्ञान का आधार है—दृढ़ अध्यवसाय, निरन्तर गतिशीलता, निरन्तर विकास।

अध्यात्म का क्षेत्र रूढ़ बन गया। जो व्यक्ति मान बैठा, उससे आगे जाने के लिए तैयार नहीं है। अध्यात्म की मूलभूत सचाइयां, अध्यात्म के मूलभूत रहस्य, जो गहन रहस्य थे, उनपर पानी फेर डाला है। आदमी क्रियाकाण्डी बनकर रूढ़ बनता जा रहा है। उन्हीं रूढ़ धारणाओं की चर्चा अध्यात्म के क्षेत्र में हो रही है। अध्यात्म के क्षेत्र में अवगाहन करने पर लगता है कि उसमें कितने सूक्ष्म रहस्य प्रतिपादित हुए थे।

अध्यात्म का एक महत्त्वपूर्ण घटक है—कर्मशास्त्र। उसमें एक शब्द है—'संक्रमण'। इसकी प्रक्रिया का विशद विवेचन वहां प्राप्त है। जीवन-प्रक्रिया के संदर्भ में संक्रमण को समझा जाए तो ज्ञात होगा कि संक्रमण की वही प्रक्रिया है, जो नस्ल को सुधारने की प्रक्रिया है। कर्मशास्त्रीय संक्रमण का अर्थ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, पुण्य पाप रूप में परिवर्तित हो सकता है और पाप पुण्य रूप में परिवर्तित हो सकता है। पुण्य संचित है किन्तु बाद में ऐसा प्रयत्न किया गया, इतना तीव्र प्रयत्न किया कि अपनी भावधारा के कारण जो परमाणु पुण्य रूप में अर्जित किये थे यानी जो 'जीन' पुण्य रूप में हमारे साथ संलग्न हुए थे, उन जीनों का परिष्कार किया, उनको बदल दिया, वे पाप के रूप में परिवर्तित हो गये। बंधा हुआ पुण्य पाप बन गया। जो परमाणु पाप के रूप में अर्जित किये थे, ऐसा अच्छा अध्यवसाय, अच्छी भावधारा और अच्छा प्रयत्न किया कि पाप के रूप में जो जीन अर्जित थे, वे पुण्य के रूप में परिवर्तित हो गये। यह संक्रमण की प्रक्रिया है। यह केवल पाप और पुण्य से सम्बद्ध रखने वाली प्रक्रिया नहीं है। यह हमारी चेतना की नाना अवस्थाओं को बदलने वाली प्रक्रिया है। ज्ञात को बदला जा सकता है। जिनेटिक इन्जीनियरिंग में यही किया जा रहा है कि जीनों का ऐसा परिष्कार किया जाये, जिससे आनुवंशिकता से आने वाली बातों को समाप्त कर, उसमें इतना उन्नत ज्ञान, इतनी शक्ति और इतनी प्रतिभा भर दी जाए, जिससे पैदा होने वाली संतान बदल जाए। ऐसा हो सकता है। जब वनस्पति और पशु में ऐसा हो सकता है तो मनुष्य में ऐसा क्यों नहीं हो सकता? जब नस्ल को सुधार कर पशु को समुन्नत किया जा सकता है, उसके मूल्य और क्षमता में वृद्धि की जा सकती है तो क्या मनुष्य में ऐसा नहीं हो सकता? कर्मशास्त्र के मनीषियों ने इस प्रश्न पर बहुत गहरा चिन्तन किया था और उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरण और संक्रमण—इन सारी विधियों का प्रतिपादन किया था। किन्तु आज इनकी भाषा विस्मृत हो गई। इन तथ्यों का हृदय विस्मृत हो गया। ज्ञान और दर्शन को बदला जा सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है, आवेगों को बदला जा सकता है, व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण किया जा सकता है, नई नस्ल पैदा की जा सकती है। ये सारे कर्म-शास्त्रीय रहस्य हैं किन्तु रूढ़िवादिता के कारण ये बातें विस्मृति के गर्त में चली गई।

जो व्यक्ति आत्मा का निरीक्षण करता है, वह केवल अपना ही निरीक्षण नहीं करता, वह समूचे संसार का निरीक्षण करता है। जिसमें अपने आपको देखने की क्षमता विकसित हो गई, उसमें जगत को देखने की क्षमता भी विकसित हो गई। आत्मा और जगत—ये दोनों विभक्त नहीं हैं। सारा जगत एकसूत्रता में बंधा हुआ है। सारी एक श्रृंखला है। सब कुछ जुड़ा हुआ है। आदमी के चिन्तन की जो तरंग है, वह दूसरी तरंग से जुड़ी हुई है, दूसरी तरंग तीसरी तरंग से और तीसरी तरंग चौथी तरंग से जुड़ी हुई है। सारा विश्व तरंगों से जुड़ा हुआ है। जिसे सर्वथा विभक्त किया जा सके, वैसा कुछ भी नहीं है। भगवान

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महावीर ने कहा—'जो एगं जाणइ स सव्वं जाणइ'—जो एक को जानता है वह सबको जानता है। वास्तव में एक को जानने वाला ही सबको जान सकता है। सबको जाने बिना एक को भी नहीं जाना जा सकता। आज का विज्ञान भी इसी भाषा में बोलता है।

हमारी आंतरिक एकता, एकसूत्रता इतनी जुड़ी हुई है तो फिर आत्मा को जानने वाला क्या पदार्थ को नहीं जानता? जिसने सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया है, अपने आपको जाना, उसने सारे संसार को जाने-अनजाने जानने का प्रयास किया है और उस दिशा में चरण आगे बढ़ाए हैं।

हम अपने निरीक्षण की बात करें, क्योंकि भावों को बदलने के लिए आत्म-निरीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान में सबसे पहले हम यह देखें कि भीतर कौन-सा भाव प्रबल हो रहा है? कौन-सी संज्ञा या प्रवृत्ति उभर रही है? लोभ का भाव, मान और अहंकार का भाव, क्रोध और रोष का भाव, कामवासना और घृणा का भाव—ये सारे नकारात्मक भाव हैं। इनके प्रतिपक्षी भाव विधेयात्मक या सकारात्मक भाव हैं—संतोष, आर्जव, क्षमा, प्रेम आदि-आदि। ये सारे भाव एक साथ नहीं उभरते। कभी किसी भाव की प्रबलता होती है और कभी किसी भाव की। किसी व्यक्ति में रस लोलुपता के भाव की प्रबलता है तो किसी में भय का भाव प्रबल होता है। किसी में कामवासना का भाव उभरता है तो किसी में लोभ की भावना प्रबल होती है। ध्यान करने वाले को एकान्त में बैठकर सूक्ष्म दृष्टि से आत्मनिरीक्षण करना होता है और देखना पड़ता है कि कब कौन-सा भाव उभर रहा है। जब तक स्वयं के भावों का निरीक्षण नहीं किया जाता और अपने प्रबलतम भाव को नहीं पकड़ा जाता, तब तक ध्यान की बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं हो सकती। ध्यान के द्वारा हम यही तो चाहते हैं कि भाव-परिवर्तन हो। दृष्टिकोण बदले, आचरण और व्यवहार बदले, तब तक परिवर्तन कैसे हो? सबसे पहले हमें उस भाव को पहचानना होगा, जो हमारे जीवन में अधिक समस्याएं और उलझनें पैदा कर रहा है। यह पूरा वैयक्तिक काम है।

मनोवैज्ञानिक टेस्ट के लिए एक निर्धारित या योजनाबद्ध प्रश्नावली होती है किन्तु उस प्रश्नावली की अपेक्षा अन्तर् निरीक्षण और आत्म-निरीक्षण की प्रश्नावली अधिक गूढ़ और गहरी है। उसके आधार पर भाव को ज्ञात किया जाता है और परिवर्तन का यह पहला सोपान है। जब यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक भाव अधिक सक्रिय है, वह नकारात्मक है, वही समस्याएं खड़ी कर रहा है तो उसे सबसे पहले बदला जाए। ध्यान का यही प्रयोजन है। प्रेक्षाध्यान

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के संदर्भ में श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा आदि के प्रयोग प्रत्येक ध्यान साधक के लिए करणीय प्रयोग हैं। इनसे परिवर्तन घटित होता है, पर इसके लिए दीर्घ समय अपेक्षित होता है। भाव परिवर्तन के लिए हमें प्रेक्षा ध्यान के संदर्भ में विशेष प्रयोग करने होंगे, जिससे कि हमारा वांछित कार्य शीघ्र हो सके, जब साधक ध्यान की सामान्य प्रक्रियाएं करता है तभी सभी वृत्तियों का थोड़ा-थोड़ा परिष्कार होता है। सबको परिवर्तन की संविभागिता प्राप्त होती है। किन्तु जब शक्ति का सारा हिस्सा एक ही वृत्ति के परिवर्तन में लगता हो तब वह वृत्ति शीघ्र समाप्त हो जाती है, परिष्कृत हो जाती है। यह स्पेशेलाइजेशन की बात है, प्रत्येक कला में या विधाओं में विशेषज्ञ होते हैं और वे उस शाखा के विशेष रहस्यों के ज्ञाता होते हैं। यही बात ध्यान के विषय में है। जब एक विशेष भाव के परिष्कार की बात आती है, तब विशेष प्रकार की ध्यान प्रक्रिया ही उसमें साधक बन जाती है।

प्रत्येक समस्या के दो पहलू हैं—बाहरी और भीतरी। दोनों को देखने पर ही समाधान प्राप्त हो सकता है। जो केवल बाहर ही बाहर देखता है, उसमें ही अटक जाता है तो उलझनें पैदा हो जाती हैं।

एक बड़ा व्यापारी था। करोड़पति था। एक दिन दो-चार व्यक्ति उसके पास गए। सेठ उसके रहन-सहन और बोलचाल से प्रभावित हुआ। आगन्तुकों ने कहा सेठ साहब! हमारे साथ यह जो सज्जन आए हैं, ये कन्नौज के बड़े व्यापारी हैं। करोड़ों की आय है। ये अपनी पुत्री की सगाई आपके लड़के से करना चाहते हैं। न जाने कब कैसे योग मिला कि लड़की ने लड़के को पसंद कर लिया है। सेठ साहब! हमारे सेठजी चाहते हैं कि लड़की का दहेज करोड़ों में हो। आपकी जो वार्षिक आय है, उससे पांच गुना धन ये दहेज में देंगे। आप सोचें और हमें स्वीकृति दें।

सेठ का मन लालच से भर गया। उसने कहा—यह रिश्ता मुझे मंजूर है। दहेज की कोई बात नहीं है, जो कुछ देना चाहें, दें। मेरे तो साल की एक करोड़ की आय है।

आगन्तुकों ने कहा—सेठ साहिब! अब आप यहीं बैठें। आपके सारे बही-खाते यहां मंगवा लें। हम इन्कमटेक्स के अफसर हैं। बहुत दिनों से आप सरकार की आंखों में धूल डालते रहे। अब आपको बड़े घर की हवा खानी होगी।

सेठ ने केवल बाहर को देखा, भीतरी समस्या तक वह गया ही नहीं और पकड़ा गया।

आदमी का बाहरी व्यक्तित्व एक प्रकार का होता है और भीतरी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

व्यक्तित्व दूसरे प्रकार का होता है। उसमें दो प्रकार के व्यक्तित्वों का द्वन्द्व सदा बना रहता है। यह अन्तर्द्वन्द्व इतना जटिल होता है कि व्यक्ति अपने बारे में सही निर्णय नहीं ले पाता।

कर्मशास्त्र की भाषा में प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार के व्यक्तित्व हैं—एक है औदयिक व्यक्तित्व और दूसरा है क्षायोपशमिक व्यक्तित्व। औदयिक व्यक्तित्व वह है, जिसको हमने स्वयं अर्जित किया है। जो संस्कार हमारे भीतर पड़े हैं, वे संस्कार, वासनाएं और कर्म परमाणु, ये अपना कार्य निरन्तर कर रहे हैं, उदय में आ रहे हैं, रस-विपाक दे रहे हैं—यह हमारा औदयिक व्यक्तित्व है। दूसरी ओर हर व्यक्ति अच्छाई भी करता है, अच्छी प्रवृत्ति भी करता है, वे भी अर्जित हैं, संचित हैं—यह हमारा दूसरा व्यक्तित्व है। इसे कर्मशास्त्रीय भाषा में क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है।

मनोविज्ञान ने भी डुएल पर्सनेलिटी—दुहरे व्यक्तित्व की बात को स्वीकृति दी, किन्तु वह यह समाधान नहीं दे सका कि ये दो व्यक्तित्व क्यों हैं? कोई कारण नहीं बता सका। यह कारण कर्मशास्त्र के द्वारा ही जाना जा सकता है। कर्मशास्त्र कहता है कि हमारे ही भावों के कारण, हमारे ही आचरणों और व्यवहारों के कारण हमने अपने भीतर दो व्यक्तित्वों का निर्माण किया है। प्रातःकाल एक व्यक्ति जो शान्त, क्षमाशील और निर्द्वन्द्व जान पड़ता है, वह सायंकाल होते-होते अशांत, क्रोधाकुल और द्वन्द्व युक्त हो जाता है। आदमी एक दिन में न जाने कितने रूप बदलता है। यदि कोई 'हाईफ्रिक्वेन्सी' वाले कैमरे से उसके दस-बीस फोटो, भिन्न-भिन्न समय में ले तो ज्ञात हो सकता है कि कितने प्रकार के पोज आते हैं। शायद आदमी पहचान नहीं पायेगा कि सारे पोज एक ही व्यक्ति के हैं। अंग्रेजी में एक शब्द है—(Mood)। यह उन विभिन्न अवस्थाओं का जनक है। आदमी के मूड बनते-बिगड़ते हैं और उन्हीं के अनुसार उसकी अवस्थाएं बनती हैं।

आदमी अन्तर्द्वन्द्व का जीवन जी रहा है। यह अन्तर्द्वन्द्व बहुत गहराई से आ रहा है। इसीलिए अपने अन्तर् व्यक्तित्व का निरीक्षण करने में और यह समझने के लिए कि मेरा व्यक्तित्व कैसा है, मैं कहां हूं, वह समर्थ नहीं हो पा रहा है। इसका मूल कारण है अन्तर्द्वन्द्व। बाहरी व्यक्तित्व और आंतरिक व्यक्तित्व के बीच में जो भेद-रेखा है, उसको जब तक पाटा नहीं जाता और अखण्ड व्यक्तित्व को जब तक समझा नहीं जाता तब तक मानसिक अशांति मिट नहीं सकती, मानसिक समस्याएं समाहित नहीं हो सकती।

ध्यान का अर्थ है अखंड व्यक्तित्व को जान लेना, बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व को पहचान लेना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विज्ञान ने संसार का बहुत उपकार किया है। जो व्यक्ति केवल बाह्य व्यक्तित्व में ही उलझे रहते थे, बाह्य दर्शन में ही भटक रहे थे, उनको भीतरी जगत देखने की प्रेरणा दी। आज विज्ञान ने इतने सूक्ष्म उपकरण बना लिए हैं कि वस्तु के अन्तस्थल में जाकर उसका पूरा विश्लेषण किया जा सकता है। क्या इसे अध्यात्म की प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता? वास्तव में विज्ञान और अध्यात्म में अन्तर कहां है? सत्य को जानने का जहां तक प्रश्न है, मुझे लगता है, विज्ञान और अध्यात्म दो नहीं हैं। अध्यात्म का काम था—वस्तु के अंतस्थल में जाकर सत्य को निरीक्षण करना और यही काम विज्ञान का है। निरीक्षण के माध्यम दोनों के दो हो सकते हैं, पर लक्ष्य एक है। किसी वैज्ञानिक उपकरण के द्वारा यदि विध्वंस होता है तो यह विज्ञान का दोष नहीं, यह तो प्रयोग करने वाले व्यक्ति का पागलपन है। उसके मस्तिष्क की विकृति है। क्या अध्यात्म की साधना करने वाला ऐसा नहीं कर सकता है। विनाश का प्रयोग करना न विज्ञान का पागलपन है और न अध्यात्म का पागलपन है। यह पागलपन है प्रयोक्ता का, प्रयोग करने वाले का।

हम अनेक पौराणिक घटनाएं जानते हैं। हम अनेक ऋषियों के घटनाओं को जानते हैं। अनेक ऋषियों के शाप प्रसिद्ध हैं। क्या उन शापों से आदमी नहीं मरे? क्या शाप देकर ऋषियों ने अनेक लोगों को नहीं सताया? शकुन्तला की क्या अवस्था हुई थी? उसका कारण क्या ऋषि नहीं थे? ऋषियों ने कितने व्यक्तियों और जनपदों को भस्म कर डाला। क्या यह अध्यात्म का दुरुपयोग नहीं था? यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस वस्तु का कैसा प्रयोग करता है?

वैश्यायन तपस्वी था। गोशालक ने उससे छेड़-छाड़ की। वैश्यायन अत्यन्त कुपित हो गया। उसने तेजोलब्धि का प्रयोग किया। मुंह से आग की लपटें निकलने लगीं। क्षण भर में गोशालक वहीं राख का ढेर हो जाता पर उसे बचा लिया गया। ऐसी अनेक घटनाएं इतिहास में हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक व्यक्ति भी अपने तपोजन्य विभूतियों का किस प्रकार प्रयोग कर दिया करते थे। दुरुपयोग होना एक अलग बात है। विज्ञान का भी दुरुपयोग हो सकता है और आध्यात्मिक शक्तियों का भी दुरुपयोग हो सकता है। यदि केवल दुरुपयोग को लेकर हम विज्ञान का कटाक्ष करते हैं तो यह बड़ी भूल है। वास्तव में विज्ञान ने भी सूक्ष्म सत्यों का अन्वेषण किया है, अवगाहन किया है, निमज्जन किया है, मंथन किया है और उन्हें अभिव्यक्ति दी है। अध्यात्म ने तो दिया ही है। सत्य की खोज सत्य की खोज है। कोई अंतर नहीं आता।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वैज्ञानिक युग के कारण धार्मिक लोगों की भी यह स्थूलस्पर्शी दृष्टि कुछ कम हुई है। अन्यथा धर्म का जगत इन शताब्दियों में इतना स्थूल बन गया कि वह केवल शब्दों के जाल में उलझ गया। उसने प्रयोग की प्रक्रिया छोड़ दी। दर्शन युग में जिन दर्शनशास्त्रों और तर्कशास्त्रों का निर्माण हुआ, वे कलेवर में बहुत बड़े, पर तथ्य में उतने ही छोटे। उनको पढ़ते-पढ़ते आदमी थक जाता है। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में वाग्जाल का विस्तार हुआ इसलिए सूक्ष्म सत्यों का अवबोध उस जाल में दब गया। किन्तु आज विज्ञान ने अध्यात्म के समक्ष कुछ चुनौतियां प्रस्तुत की हैं। उन चुनौतियों के कारण धार्मिक जगत में कुछ चेतना का संचार हुआ है और वह अध्यात्म की पुरानी भाषा को समझने का प्रयास कर रहा है। धार्मिक लोग सूक्ष्म सत्यों के अवगाहन की बात सोचने लगे हैं।

प्रेक्षाध्यान प्रयोग के प्रारंभ में हम उच्चारण करते हैं—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। यह आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया है। इसका उच्चारण सरल है, पर प्रयोग कठिन है, अभ्यास-साध्य है। अपने आपको देखना, अपने व्यक्तित्व को पहचानना सीधा काम नहीं है। अपने अन्तर्द्वन्द्वी व्यक्तित्व में बहने वाली दो विपरीत धाराओं को पहचानना बहुत जटिल कार्य है। औदयिक व्यक्तित्व एक दिशा की ओर ले जाता है और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व दूसरी दिशा की ओर ले जाता है। इस अन्तर्द्वन्द्व को समेटना बहुत कठिन कार्य है। औदयिक का अर्थ है—चैतन्य का आवरण और क्षायोपशमिक का अर्थ है—चैतन्य का आवरण। एक शक्ति का अवरोधक है और दूसरा शक्ति का अभिव्यंजक है। दोनों हमारे भीतर हैं। आनन्द पर पर्दा डालने वाली धारा और अजस्र आनंद को प्रवाहित करने वाली धारा—दोनों भीतर विद्यमान हैं। हमें पूरी जागरूकता के साथ मन को एकाग्र कर अन्दर झांकना होगा कि यथार्थ में आंतरिक व्यक्तित्व कैसा है? बाहर से स्वच्छ और सुन्दर दीखने वाला भी भीतर में कलुषित हो सकता है। गंगा का पानी उद्भव में स्वच्छ है पर चलते-चलते मटमैला और दूषित हो जाता है। जब आदमी अपने बाह्य और आंतरिक व्यक्तित्व को सम्यक प्रकार से जान लेगा तब वह उनमें संतुलन स्थापित करने की बात सोच सकेगा। केवल बाह्य व्यक्तित्व का ज्ञान भी पर्याप्त नहीं है। दोनों का समवेत ज्ञान ही अखंड व्यक्तित्व का ज्ञापक होगा और तब निर्णय करने में सुविधा होगी कि किसको कैसे बनना है। ध्यान के प्रयोग से व्यक्ति अपना आत्म निरीक्षण कर सके, अपने आपको पहचान जाए यह अपेक्षित है। पहचान का होना भ्रांति का मिटना है। यह बहुत मूल्यवान है। यदि हम आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया को समझ सकें, अपने आपको देख सकें, जितने-जितने अतिक्रमण हुए हैं, उनका प्रतिक्रमण कर सकें तो ध्यान योग की बहुत बड़ी सफलता हो सकती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बदलने की प्रक्रिया का पहला सूत्र है—आस्था-श्रद्धा। यह आस्था घनीभूत हो जाए कि आत्म निरीक्षण के द्वारा व्यक्तित्व का रूपान्तरण किया जा सकता है। यह 'फेथ हीलिंग' का प्रकार है। पाश्चात्य जगत में 'फेथ हीलिंग' का प्रचलन है। मैं चाहता हूं, हमारे परिवर्तन की प्रक्रिया में भी फेथ-आस्था घनीभूत हो। उससे रूपान्तरण अवश्य घटित होता है। पर आज का आदमी इतना अधैर्य पालता जा रहा है कि वह कहीं नहीं टिकता, बदलता रहता है। उसकी आस्था टिक नहीं पाती। वह सफल नहीं हो पाता।

अध्यात्म के क्षेत्र में कार्य करने वाले लोग इस सचाई का अनुभव करें कि सफलता का पहला सूत्र है—आस्था।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भाव-परिवर्तन और मनोबल

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि शुद्ध भाव बना रहे, अशुद्ध भाव आए ही नहीं। परन्तु प्रकृति या नियति का यह चक्र है कि शुद्ध भाव कम रहता है और अशुद्ध भाव अधिक। इसको कैसे बदला जाए? शुद्ध भाव निरंतर बना रहे, यह कैसे हो?

शक्ति संपन्न व्यक्ति ऐसा कर सकता है। कमजोर आदमी कुछ भी नहीं कर सकता। वह मात्र दया की भीख मांग सकता है, दीन-हीन बनकर जी सकता है। आदमी शक्ति से संपन्न होता है—शरीर की शक्ति, मन की शक्ति और भावना की शक्ति। भाव परिवर्तन के लिये मन की शक्ति अधिक चाहिए, शारीरिक शक्ति कम चाहिये। शरीर बल से संपन्न, किन्तु मनोबल से क्षीण व्यक्ति बुराइयों में चले जाते हैं। ऐसे लोग भी देखे हैं, जो शरीर बल से क्षीण हैं पर मनोबल से संपन्न हैं, वे कभी बुरे कार्यों में नहीं फंसते। वे कृशकाय व्यक्ति बहुत बड़े-बड़े कार्य कर देते हैं।

महात्मा गांधी कृशकाय थे पर उनका मनोबल हिमालय से भी ऊंचा था। उनका एक वाक्य मुझे बहुत आकृष्ट कर गया—'मेरे मन में एक इच्छा है कि मैं किसी अच्छे कार्य के लिए अपने प्राणों का बलिदान करूं, मर जाऊं। पर मेरे मन में कभी यह इच्छा नहीं जागती कि मैं किसी भी काम के लिए किसी को मारूं।' यह मनोबल के द्वारा ही संभव हो सकता है। मनोबली व्यक्ति ही सोच सकता है। अन्यथा सामान्य आदमी यह सोचेगा कि जो मुझे मारने आएगा, उसे मारकर मैं मरूंगा। मारने मरने की बात सोची जा सकती है। मारे बिना मरने की बात नहीं सोची जा सकती।

जीवन चलाने के लिए शरीर-बल आवश्यक होता है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु जीवन यात्रा को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए, जीवन में कुछ विशिष्टता संपादित करने के लिए आवश्यकता होती है मनोबल की।

आयुर्वेद में मनोबल के विषय में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। आज के मनोविज्ञान में भी मनोबल के विषय में प्रचुर चिन्तन मिलता है। मनोबल तीन प्रकार का होता है—उत्तम मनोबल, मध्यम मनोबल और अल्प मनोबल। कुछ व्यक्ति उत्तम मनोबल से संपन्न होते हैं। उनका मनोबल प्रबल होता है। 'सत्त्ववान् सहते सर्वम्, संस्तभ्यात्मानमात्मना'—उत्तम मनोबल को

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

'सत्वसार' कहा जाता है। जो सत्वसार होता है वह बहुत सहन कर लेता है। वह बड़ी से बड़ी पीड़ा और मर्माहत घटना को, वेदना को सह लेता है। दूसरे को पता ही नहीं चलने देता, 'ओह' तक नहीं करता। ऐसे सहिष्णु लोग होते हैं, जो बड़े से बड़ा संघर्ष, कठिनाई और आपत्ति को हंसते हुए झेल लेते हैं। दूसरों को यह ज्ञात भी नहीं होता कि वे आपत्ति में रह रहे हैं। वे आत्मा को आत्मा के द्वारा इतना संयत कर लेते हैं कि अपनी वेदना को बाहर फूटने नहीं देते।

दूसरे लोग मध्यम मनोबल वाले या राजस् मन वाले होते हैं। वे दूसरों के द्वारा प्रेरित होकर सह लेते हैं। वे वेदना को सहते हैं, कठिनाइयों को सहते हैं; पर उनका स्वयं का मनोबल इतना दृढ़ नहीं होता है इसलिए स्खलित भी हो जाते हैं। जब दूसरा उनको ढाढस देता है तब उनका मनोबल मजबूत हो जाता है और वे बड़ी से बड़ी पीड़ा को सहजता से सह लेते हैं।

स्थानांग सूत्र में एक प्रतिपादन है कि वीतराग, केवली अथवा गुरु कष्टों को सहन करते हैं। वे सोचते हैं—हम कष्टों को सहन करेंगे तो हमें देखकर अन्याव्य दुर्बल मनोबल वाले साधु-साध्वी भी कष्ट सहन करेंगे और यदि हम कष्टों को सहन करने में पीछे हटेंगे तो दूसरे भी कष्ट सहने में कमजोर हो जायेंगे।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं, जो अल्प मनोबल के धनी होते हैं। उनमें स्वयं कष्ट झेलने की क्षमता नहीं होती और न वे दूसरों की प्रेरणा से कष्ट झेलने में सक्षम होते हैं। उनका मनोबल बढ़ता ही नहीं। उसके चरण आगे नहीं बढ़ते, जहां रुक गये, वहीं रुक जाते हैं। वे सहन करना जानते ही नहीं। वे न शारीरिक पीड़ा को सहन कर सकते हैं और न मानसिक पीड़ा को सहन कर सकते हैं। वे किसी भी समस्या या घटना को देखकर विचलित हो जाते हैं। इसलिए वे नशीली गोलियां खा लेते हैं और बेहोशी में जाकर उस वेदना को भुला देना चाहते हैं। एक बार कुछ समय के लिए वे भुला देते हैं, पर इससे मनोबल और अधिक क्षीण होता है। वे इतने अधिक असहिष्णु बन जाते हैं कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं है।

पति-पत्नी लड़ने लगे। झगड़ा तीव्र हो गया। आसपास के लोग एकत्रित हो गये। उन्होंने पूछा—लड़ते क्यों हो? पत्नी ने कहा—अजब स्थिति है। विवाह हुए तीन वर्ष हो गये हैं। पहले वर्ष में मैं 'चन्द्रमुखी' थी। दूसरे वर्ष में 'सूर्यमुखी' हुई और अब तीसरा वर्ष चल रहा है। मैं 'ज्वालामुखी' बन गई हूं। पति बोला—मेरी भी स्थिति विचित्र है। पहले वर्ष 'प्राणनाथ' था, दूसरे वर्ष में 'नाथ' बना और इस तीसरे वर्ष में पूरा अनाथ बन गया हूं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

न पति पत्नी को सहन करना जानता है और न पत्नी पति को सहन करना चाहती है। छोटी-छोटी बातों पर उछल पड़ते हैं। मानो कि भाड़ में चला उछला हो।

सामूहिक और पारिवारिक जीवन में एक दूसरे को सहन करना ही पड़ता है। आज सहन करना कोई नहीं चाहता। यही सबसे बड़ी समस्या है। असहनशीलता के कारण दिन-रात लड़ाइयां होती हैं, झगड़े और संघर्ष होते हैं। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि सहिष्णुता का विकास हो किन्तु सहिष्णुता का विकास तभी सम्भव है जब मनोबल का विकास हो।

आयुर्वेद में मनोबल के तीन प्रकार बताये हैं—सहज, कालकृत और युक्तिकृत।

कुछ व्यक्तियों को आनुवंशिकता से मनोबल प्राप्त हो जाता है। उसमें माता-पिता की विशिष्टता कारण है। माता-पिता मनोबली होते हैं तो पुत्र को भी मनोबल विरासत में मिल जाता है। इसलिए माता को गर्भावस्था में विशेष जागरूक रहना होता है। जो माता इस अवस्था में जागरूक नहीं होती, वह अपनी संतान को अंधकार में ढकेल देती है। जो माता इस अवस्था में जागृत रहती है, सावधान रहती है, वह अपनी संतान के लिए भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर देती है। माता-पिता के द्वारा जो मनोबल प्राप्त होता है, वह सहज मनोबल है।

दूसरे प्रकार का मनोबल है—कालकृत। यह अवस्था विशेष से संबंधित होता है। छोटे बच्चे का मनोबल बहुत दृढ़ नहीं होता। जब वही बच्चा युवावस्था को प्राप्त होता है तब मनोबल बढ़ जाता है। जब वही बूढ़ा होता है तब मनोबल लड़खड़ा जाता है, कमजोर हो जाता है। वृद्धावस्था में नियंत्रण शक्ति कमजोर हो जाती है। यह कालकृत मनोबल है। कालकृत का दूसरा अर्थ है—ऋतुकृत या समयकृत। अमुक-अमुक समय में मनोबल बढ़ जाता है, घट जाता है। प्रकाश में मनोबल बढ़ जाता है और अन्धकार में घट जाता है। दिन में दो बार श्मशान घाट पर जाने वाला व्यक्ति भी रात में उस परिचित स्थान में जाने से घबराता है। ऐसा इसलिए होता है कि दिन में मनोबल बना रहता है, रात में घट जाता है।

मनोबल का तीसरा प्रकार है—युक्तिकृत मनोबल। उचित उपायों के द्वारा मनोबल को बढ़ाया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को सहज मनोबल प्राप्त न हो, वह निराश न बने। कृत्रिम उपायों के द्वारा मनोबल को विकसित किया जा सकता है। मनोबल बढ़ाने के अनेक उपाय

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हैं। संतुलित भोजन या उपयुक्त वनस्पतियों से भी मनोबल बढ़ सकता है। प्रेक्षाध्यान भी उसका साधन है। श्वासप्रेक्षा से एकाग्रता और संकल्पशक्ति का विकास होता है। उससे मनोबल बढ़ता है, सहन करने की क्षमता बढ़ती है। मनोबल बढ़े बिना सहन करने की क्षमता नही बढ़ती।

थोड़ा-थोड़ा कष्ट सहन करने का अभ्यास जीवन की सफलता का परम सूत्र है। आरामतलबी का जीवन असफलता का जीवन है। जिस व्यक्ति को सफल होना है, उसे श्रममय जीवन जीना होगा, कष्ट सहन करने होंगे।

इस विषय में भगवान महावीर का कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है—जो श्रमण आरामतलब जीवन जीता है, आलसी जीवन बिताता है, पूरा समय कपड़े और शरीर की सार-संभाल में व्यतीत करता है, ऐसा श्रमण के लिये सुगति दुर्लभ है। वह अपने जीवन में सफल नही हो सकता है।

जो व्यक्ति श्रम करता है, साधनामय जीवन जीता है, तपस्या करता है, कठिनाइयों को झेलता है, सहन करता है, उच्चावच्च अवस्था में सम रहता है, उसे सुगति सुलभ होती है। वह जीवन में सफल होता है और उन्नति के शिखर तक पहुंच जाता है।

तओगुणपहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुग्गई तारिसगस्स।।
सुहसायगस्स समणस्स सामा उलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा पहोइस्स दुलहा सुग्गई तारिसगस्स।।

सहिष्णुता को बढ़या जा सकता है। जब सहिष्णुता बढ़ती है तब मनोबल बढ़ता है। मनोबल बढ़े बिना सहिष्णुता नहीं बढ़ती और सहिष्णुता बढ़े बिना मनोबल नही बढ़ता।

आसन के प्रयोग से शरीर को कष्ट अवश्य होता है पर साथ-साथ मनोबल भी बढ़ता है, सहिष्णुता भी बढ़ती है। दस दिनों की साधना के बाद जब व्यक्ति शिविर से निकलता है तब वह मनोबल और सहिष्णुता का बल लेकर निकलता है।

भय, क्रोध, शोक, चिन्ता, ईर्ष्या—इन प्रवृत्तियों से मनोबल टूटता है। साधना करने वाले व्यक्ति में ऐसी प्रेरणाएं जागती हैं कि क्रोध कम हो, भय न लगे, ईर्ष्या और शोक न आए। इन सारी प्रेरणाओं से उसमें वृत्तियों के परिष्कार की भावना जागती है और तब मनोबल वृद्धिंगत होता है। शुद्ध भाव मनोबल को मजबूत बनाता है और मनोबल शुद्ध भाव को अधिक अवकाश देता है। जिस व्यक्ति का मनोबल मजबूत होता है, वह अशुद्ध भावों को रोकने में सक्षम

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होता है। जो व्यक्ति अशुद्ध भावों को रोक सकता है, उसमें शुद्ध भाव जागते हैं और तब मनोबल सुदृढ़ हो जाता है। दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। एक दूसरे को परस्पर बल देते हैं। शुद्ध भाव मनोबल के विकास में हेतुभूत बनते हैं और मनोबल के विकास से शुद्ध भाव विकसित होते हैं। हमारा पहला प्रयत्न यह है कि भाव विशुद्धि के लिए मनोबल का विकास किया जाए।

गर्मी का मौसम है। पंखे चल रहे हैं। अच्छा तो लगता है कि गर्मी नहीं लग रही है। इतना तो लाभ है। किन्तु प्रतिदिन के अभ्यास से पंखे की ये जो परवशता बन जाती है उससे गर्मी सहन करने की भावना शिथिल हो जाती है, सहन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, उसका परिणाम कितना भयंकर होता है। साथ-साथ मनोबल भी टूट जाता है। हम आपातभद्र को बहुत मूल्य देते हैं, फिर चाहे परिणाम विरस ही क्यों न हो। पंखे की हवा आपातभद्र तो लगती है पर उसका परिणाम विरस ही होता है।

अमेरिका का प्रसिद्ध उद्योगपति रस्क चाइल्ड निरंतर वातानुकूलित वातावरण में रहता था। घर, ऑफिस, कार, कारखाने—सभी वातानुकूलित थे। धीरे-धीरे वह बीमार रहने लगा। बीमारी बढ़ी। डॉक्टर ने कहा—तुम प्रतिदिन तीन घंटा गर्म पानी में बैठा करो। उसने वैसा ही किया। कुछ दिनों के प्रयोग के पश्चात उसे महसूस हुआ कि वह स्वस्थ है, स्फूर्ति आई है। उसने सोचा—दिन-रात वातानुकूलित में रहूं और केवल तीन घंटा गर्म पानी में रहकर स्वस्थ अनुभव करूं, इसके बदले यह अच्छा है कि मैं सारे वातानुकूलित सिस्टम को ही समाप्त कर दूं। उसने वैसा ही किया। वातानुकूलित हट गया। तीन घंटे गर्म पानी में बैठना भी छूट गया।

प्रत्येक सुविधा एक प्रतिक्रिया पैदा करती है। मैं मानता हूं, आदमी सुविधा को छोड़ना नहीं चाहता, छोड़ नहीं सकता पर कष्ट सहने का अभ्यास नहीं छूटना चाहिए। वह बराबर बना रहे, वैसा प्रयत्न करना चाहिए। हम तो चाहते भी हैं कि शिविर में आने वाले साधकों को ध्यान के प्रयोगों के साथ-साथ कष्ट सहने के प्रयोग भी कराए जाएं। गर्मी का मौसम हो। एक खिड़की वाले कमरे में ध्यान कराया जाए। न पंखा, न वातानुकूलन। पसीना आए तो आए, गर्मी लगे तो लगे। इस प्रकार के प्रयोगों से कष्ट सहने का अभ्यास बढ़ता है।

आज सैनिकों को गर्मी तथा ठंड सहन करने का अभ्यास कराया जाता है। भयंकर ठंड और भयंकर गर्मी वे सहन कर सकें, इसलिए उन्हें ठंडे या गर्म प्रदेशों में रखा जाता है। चीनी सैनिकों से भारतीयों सैनिकों के हारने का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एक कारण यह भी था कि भारतीय सैनिक हिमालय की भंयकर सर्दी को सहन करने में सक्षम नही थे। आज इसका व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया जाता है। दूसरे महायुद्ध में जर्मनी के सैनिकों को अफ्रीका में लड़ना था। यूरोप की ठंड और अफ्रीका की गर्मी—दोनों में तालमेल नहीं था। तब जर्मन सैनिकों को वैसे कृत्रिम मकानों में रखा गया, जिनका तापमान अफ्रीका के तुल्य था। उन्हें वैसे मकानों में ही ट्रेनिंग दी गई।

अंतरिक्ष की यात्रा करने वाले वैज्ञानिकों को कितना प्रशिक्षण दिया जाता है। उस प्रशिक्षण में सहन करने की क्षमता को विकसित करने की मुख्यता रहती है। हर कोई व्यक्ति अंतरिक्ष की यात्रा नहीं कर सकता और यदि कोई करता है तो लौटकर नहीं आ सकता।

आज धार्मिक लोग भी कष्ट सहने से कतराते हैं। पदयात्रा भी कष्ट है, गर्मी भी कष्ट है, सर्दी भी कष्ट है। वे भी सुविधावादी बनते जा रहे हैं।

कहा गया—जो अहिंसा और सत्य की साधना करना चाहता है, जो अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहता है, यदि वह परीषह-विजयी नही है, कष्टसहिष्णु नही है तो न अहिंसा सधेगी, न सत्य सधेगा, न अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य सधेगा। थोड़ी-सी समस्या आयेगी और अहिंसा, सत्य आदि कही रह जाएंगे। अपरिग्रह की भावना टूट जाएगी, ब्रह्मचर्य की बात छूट जाएगी।

कष्ट-सहिष्णुता के बिना जीवन में उदात्त धर्म की साधना नहीं की जा सकती। सारी उदात्तताएं, विशिष्टतायें कष्ट-सहिष्णुता के साथ जुड़ी हुई है। साधक को कष्ट-सहिष्णु बनना ही चाहिए। ध्यान की साधना करने वालों को कष्ट से विचलित नही होना चाहिए। कष्ट सहने का भी प्रशिक्षण होना चाहिए। जहां दो सौ व्यक्ति हों, वहां यदा-कदा अनेक प्रकार की कठिनाइयां आ सकती हैं। यदि व्यवस्थापक कठिनाइयां नहीं आने देते हैं तो यह उनकी व्यवस्था निपुणता है। किंतु कष्ट सहने का अवसर भी आना चाहिए। तभी साधकों की कसौटी हो सकती है। जैसे व्यवस्थापकों की कसौटी है कि व्यवस्था को कितनी निपुणता से बनाए रखते हैं, वैसे ही साधकों को यह कसौटी है कि व्यवस्था में कहीं न्यूनता होने पर वे कैसे उनको सहन करते हैं। प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा का संकल्प है—मैं 'प्रतिक्रिया विरति' का अभ्यास करूंगा। क्या कष्टों को सहन न करने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया नहीं करेगा? जो सहन करना नहीं जानता, वह प्रतिक्रिया से बच नही सकता। प्रतिक्रिया से वही व्यक्ति बच सकता है, जो कष्ट-सहिष्णु है, जिसमें सहिष्णुता का विकास हुआ है।

हमारी चेतना की बड़ी शक्ति है—सहिष्णुता। यह वह प्रज्वलित अग्नि

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है, लौ है, जिसके द्वारा जीवन आलोकित होता है। जिसमें कष्टों को सहन करने की चेतना नहीं जागती, उसके जीवन में प्रकाश नहीं हो सकता। जिसे प्रकाशी होना है, अपने जीवन को प्रकाश से भरना है, उसे कष्ट-सहिष्णु बनना ही होगा। कष्ट सहिष्णुता के साथ-साथ मनोबल का विकास भी स्वतः होता है। यह युक्तिकृत मनोबल है, युक्ति के द्वारा मनोबल को बढ़ाना है।

एक व्यक्ति ने सांड को हाथों पर उठाने का संकल्प किया। वह उसी दिन जन्मे एक बछड़े को उठाने के अभ्यास में लग गया। प्रतिदिन वह बछड़े को उठाता। बछड़ा बड़ा होता गया और उस व्यक्ति की भार उठाने की शक्ति बढ़ती गई। एक दिन वह सांड उठाने में सफल हो गया।

निरन्तर अभ्यास करने वाला व्यक्ति एक सांड को भी आसानी से उठा सकता है। इस प्रकार निरन्तर थोड़े-थोड़े कष्टों को भी सहने का अभ्यास करने वाला व्यक्ति कष्टों के पहाड़ को भी अपनी भुजाओं पर झेलने में सक्षम हो जाता है, वह कठिनाइयों या विपत्तियों में कभी नहीं टूटेगा, कभी नहीं बिखरेगा।

ध्यान केवल मन को एकाग्र करने का ही दर्शन नहीं है, वह जीवन का समग्र दर्शन है। जिस व्यक्ति ने ध्यान को जीवन के समग्र दर्शन के रूप में नहीं समझा, उसने संभवतः ध्यान के हार्द को भी नहीं समझा। उसे फिर से समझना होगा कि ध्यान केवल एकाग्रता के विकास के लिए ही नहीं है। ध्यान किया, मन की शांति मिली। ध्यान से उठे, शांति समाप्त। ध्यान ऐसी प्रणाली नहीं है। वह रात-दिन हमारा मार्गदर्शन करने वाला तथ्य है। वह हमारे जीवन पथ को समग्रता से आलोकित करने वाला दीपक है। ध्यान को व्यापक अर्थ में स्वीकार करना चाहिए। ध्यान से जीवन का क्रम बदलना चाहिए। ध्यान करने वाला व्यक्ति क्रूर व्यवहार करता है, छलना करता है, भ्रष्टाचार करता है, दूसरों को ठगता है तो फिर वह ध्यान नहीं करता, जीवन में विडम्बना पालता है। जिस व्यक्ति ने ध्यान और अध्यात्म को समझा है, उसमें इतनी संवेदनशीलता जाग जाती है कि वह अन्यथा व्यवहार कर ही नहीं सकता। ध्यान युक्ति के द्वारा मनोबल को बढ़ाने का प्रयोग है। जब मनोबल बढ़ता है, तब अनायास ही अनेक बुराइयां छूट जाती हैं। जीवन में बुराइयां तब बढ़ती हैं, जब आदमी का मनोबल कमजोर होता है। जब द्वार कमजोर है, टूटा-फूटा है तो उसमें से कुछ भी आ सकता है। जब मन टूटा हुआ होता है तो उसमें कुछ भी बुराई प्रवेश पा सकती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भाव और अध्यात्मविद्या

जीवन की सफलता का सूत्र है—अनुशासन। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन—दोनों में उसकी अपेक्षा होती है। जिस व्यक्ति के जीवन में अनुशासन नहीं होता, वह अपने आप में कभी सुखी नहीं होता।

अनुशासन एक प्राकृतिक व्यवस्था है। हमारे शरीर में एक अनुशासन है। आदमी नींद लेता है, जागता है। निद्रा और जागृति—दोनों का अपना अनुशासन है, नियम है। 'हाइपोथेलेमस' नींद का भी कन्ट्रोल करता है और जागरण का भी कन्ट्रोल करता है। हमारे शरीर में अनेक नियंत्रण हैं, अनुशासन हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न अवयव होने पर भी कार्य ठीक चल रहा है। हाथ, पैर आंख, कान—कितनों का समवाय मिला है। यदि अनुशासन न हो तो ये सारे इतने बिखर जाएं कि आदमी आदमी ही न रहे। इतने अवयवों के बीच जो आदमी आदमी बना हुआ है, एक बना हुआ है, वह अनुशासन के कारण ही बना हुआ है। अनुशासन जीवन का स्वाभाविक विधान है।

जगत के सभी पदार्थों के साथ अनुशासन जुड़ा हुआ है। मनुष्य सभी प्राणियों में अधिक समझदार है, इसलिए उसके साथ दो अनुशासन जुड़े हुए हैं—स्वाभाविक अनुशासन और आरोपित अनुशासन। आरोपित अनुशासन बहुत काम नहीं देता। प्रकाश में काम देता है, अंधकार में काम नहीं देता। दो व्यक्तियों के बीच में काम देता है, अकेले में काम नहीं देता। वह बुराई को मिटाता नहीं, उसे और अधिक गहराई में ले जाता है। उसमें यह होता है कि बुराई करो पर किसी के सामने मत करो, छुप कर करो। यह उसकी निष्पत्ति है। जो अनुशासन स्वाभाविक होता है, स्वभावतः सिद्ध होता है, वहां अंधकार और प्रकाश का, परिषद और अकेले का प्रश्न नहीं उभरता। वहां एकरूपता, एकरसता, समस्वरता होती है। कोई अन्तर नहीं आता। वह अनुशासन है अध्यात्म का अनुशासन।

अध्यात्मविद्या का विकास मानव का सर्वोपरि विकास है। जिन लोगों ने अध्यात्म की खोज की, आज तक के इतिहास में वह सबसे बड़ी खोज है। जितनी वैज्ञानिक खोजें हैं, वे सारी दृश्य की खोजें हैं, द्रष्टा की खोजें नहीं हैं। सारा अन्वेषण हुआ है, पौद्गलिक जगत पर। उसे हम ओब्जेक्टिव खोज कह सकते हैं। सब्जेक्ट आज उतना ही अज्ञात है, जितना पहले था। उसकी पर्याप्त खोज नहीं हुई है। विज्ञान इस दिशा में कुछ प्रयत्न कर रहा है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परंतु अध्यात्म के आचार्यों ने जो खोज की, उसका आज भी स्वतंत्र मूल्य है।

अध्यात्मविद्या के द्वारा जो अनुशासन प्राप्त होता है, वह अन्य किसी विद्या से प्राप्त नहीं होता। इंद्रियां, मन, विचार और भाव पर केवल अध्यात्म के द्वारा ही अनुशासन हो सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता। आदमी को सुलाया जा सकता है, मूर्च्छा में पटका जा सकता है, इलेक्ट्रोड लगाकर कुछ क्षणों के लिए बदला जा सकता है, क्रोध और आवेग को शांत किया जा सकता है, कामवासना और भूख को रोका जा सकता है, दर्द को शांत किया जा सकता है, पर यह सब होता है अल्पकाल के लिए। यांत्रिक उपकरण व्यक्तित्व का स्थायी रूपांतरण नहीं कर सकते। अध्यात्म ने ऐसे सूत्र दिए, जिनसे आदमी बदल सकता है, उसमें स्थायी रूपांतरण घटित हो सकता है। ध्यान का अर्थ है—अध्यात्म का अनुभव करना। जब तक अनुभव नहीं किया जाता, तब तक रूपांतरण की बात सफल नहीं हो सकती।

एक भाई ने पूछा, आज धर्म का इतना प्रसार हो रहा है, फिर भी समाज बदल नहीं रहा है। क्यों? यह प्रश्न एक का नहीं, हजारों-हजारों चिन्तकों का है। जो लोग थोड़ा भी सोचते हैं, वे कहते हैं, आज धर्म का इतना समारंभ हो रहा है, इतने प्रवचन पंडाल, इतने धर्म गुरु, इतने धर्म के प्रवक्ता, इतने बड़े-बड़े धर्म ग्रन्थ, पर समाज जहां था वहीं है। व्यक्ति जहां था वहीं खड़ा है। ऐसा क्यों? यह प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। इतना अध्यात्म हो, अध्यात्म के इतने उपक्रम चले और परिवर्तन न आए, यह कैसे संभव है? यहां हमारी भ्रांति हो रही है, भूल हो रही है। आज धर्म और अध्यात्म का अनुशीलन नहीं हो रहा है। आदमी प्रलोभन से धर्म कर रहा है कि धर्म से कुछ मिल जाए—धन मिल जाए, बेटे, पति मिल जाएं, मकान मिल जाए आदि-आदि। आदमी धर्म कर रहा है भय को मिटाने के लिए, परलोक न बिगड़े, नरक में न जाना पड़े, दुःख न आए, बुढ़ापा खराब न हो आदि-आदि। प्रलोभन और भय के कारण आदमी धर्म के निकट जा रहा है, परंतु वह धर्म को छू नहीं रहा है। जब धर्म का स्पर्श ही नहीं हो रहा है तो उससे परिवर्तन की आशा कैसे की जा सकती है।

ध्यान एक प्रयोग है—परिवर्तन का। ध्यान एक प्रयोग है—अनुभव करने का। जब तक आदमी अनुभव नहीं कर लेता तब तक कही हुई, सुनी हुई या पढ़ी हुई बात बहुत साथ नहीं देती। एक बार अनुभव हो जाने पर परिवर्तन शुरू हो जाता है। यह एक निश्चित बात है कि आदमी ध्यान की साधना से गुजरता है उसमें अनुभव जाग जाता है, फिर उसके लिए उपदेश

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

या प्रवचन आवश्यक नहीं होते। प्रयोग से यदि कोई अनुभव नहीं जागता है तो मानना चाहिए—या तो ध्यान की पद्धति सही नहीं है अथवा व्यक्ति ध्यान पकड़ नहीं पा रहा है। साधक ने पूरी तन्मयता और विधि से ध्यान नहीं किया है या ध्यान कराने वाले कहीं चुके हैं। अन्यथा यह हो ही नहीं सकता कि ध्यान करने वाले को छेद्य-भेद्य अनुभव न हो। जो व्यक्ति केवल प्रक्रिया का द्रष्टा होता है. प्रयोक्ता नहीं होता, उसे कुछ भी नहीं मिलता। द्रष्टा होना बुरा नहीं है परंतु उपलब्धि के लिए प्रयोक्ता बनना अनिवार्य शर्त है।

ध्यान भावशुद्धि का प्रयोग है। इसमें भावना का साक्षात्कार होता है, अनुभव होता है। ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करते समय साधक भाव-क्रिया की उपसंपदा स्वीकार करता है। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा—'यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः'—भावशून्य क्रियाएं फलित नहीं होतीं, निष्फल होती हैं। आदमी कितना ही प्रयत्न करे, यदि उसका प्रयत्न भावशून्य है तो वह व्यर्थ चला जाएगा। श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा या चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा—ये सारी प्रवृत्तियां बहुत बड़ी नहीं हैं, साधारण हैं। पर जब इनके साथ हमारा भाव जुड़ जाता है तब श्वासप्रेक्षा बहुत मूल्यवान बन जाती है, शरीर प्रेक्षा और चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा बहुत मूल्यवान बन जाते हैं। जब रंगों के साथ और लेश्या के साथ भाव संयुक्त होता है तब रंगप्रेक्षा, लेश्याप्रेक्षा का महत्त्व बढ़ जाता है। मूल्य बढ़ता है भाव से। भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। भाव नहीं जुड़ता है तो वे सारी क्रियाएं दस-बीस-पचास वर्षों तक करते रहो, निष्पत्ति मात्र शून्य रहेगी। भाव जुड़ने पर ही ये प्रवृत्तियां सार्थक होती हैं। भाव है हमारी चेतना। जब क्रिया के साथ चेतना ही नहीं है तो उसकी अंधता नहीं मिट सकती।

पदार्थ की मूर्च्छा के कारण व्यक्ति अन्धा बना हुआ है। यह अन्धता बहुत व्यापक है। यह पूरे समाज में व्याप्त है। सारी बुराइयां और विकृतियां इस अंधता के कारण पनप रही हैं। आदमी जानबूझकर इस अंधता को पाल रहा है। मूर्च्छा, व्यामोह, आसक्ति—ये आदमी की अंधता को बढ़ाते हैं। जब तक मूर्च्छा और व्यामोह नहीं टूटता, जब तक आंतरिक चेतना में जागरण की किरण नहीं फूटती तब तक समस्या का समाधान संभव ही नहीं है।

ध्यान का प्रयोग मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयोग है। उस पर ऐसी चोट हो कि वह व्यूह चकनाचूर हो जाए। जो आदमी मूर्च्छा के कीचड़ में फंसा हुआ है, वह बाहर निकल जाए—यही है चैतन्य का अनुभव।

अध्यात्म का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव। जो व्यक्ति चैतन्य की अनुभूति में नहीं जाता, वह कभी आध्यात्मिक नहीं हो सकता। जो लोग चैतन्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की अनुभूति न कर केवल बाह्य उपासनाओं और क्रियाकांडों में उलझ जाते हैं, उन्हें धर्म का रसास्वादन कभी नहीं हो सकता।

कड़छी केवल भोजन को उठा सकती है, थाली तक ले जा सकती है, परोस सकती है पर सदा खाली ही रहती है। उसने हजार बार भोजन को उठाया पर भोजन का स्वाद उसे कभी ज्ञात नहीं हो पाया। इसी प्रकार जब तक चेतना का स्पर्श नहीं होता, चेतना की अनुभूति नहीं होती, तक तक अध्यात्म का स्फुरण नहीं हो सकता। प्रश्न होता है, क्या चेतना की अनुभूति संभव है? हां संभव है। असंभव जैसा कुछ भी नहीं है। जब-जब हम राग-द्वेषमुक्त क्षण में जीते हैं वही चैतन्य के क्षण का अनुभव है। जब-जब आदमी राग-द्वेषमुक्त होता है, तब पीछे बचती है केवल चेतना। जब-जब आदमी राग-द्वेषमुक्त में जीता है तब चेतना नीचे चली जाती है, राग-द्वेष की गंदी परत ऊपर छा जाती है। चेतना का अनुभव अतीत में भी हुआ था, आज भी हो सकता है और भविष्य में भी होगा। कभी उसे रोका नहीं जा सकता। जिस व्यक्ति ने अपनी चित्त की निर्मलता का विकास किया है, जिसने प्रिय-अप्रिय संबंधों में अलग रहने का अभ्यास किया है, राग-द्वेष के क्षणों को तोड़ने का अभ्यास किया है, उस व्यक्ति को अपने चैतन्य का अनुभव हो सकता है, हुआ है। यह केवलज्ञान का अनुभव है, केवलदर्शन का अनुभव है, संवेदन मुक्त ज्ञान का अनुभव है। हमारा ज्ञान जब इन्द्रिय संवेदन के साथ चलता है तब चेतना नीचे रह जाती है और संवेदन ऊपर आ जाता है। जब संवेदन ऊपर होता है तब हम इन्द्रियों के जगत में जीते हैं, मन की चंचलता का जीवन जीते हैं, चैतन्य का जीवन नहीं जीते। जब हम संवेदन को नीचे कर देते हैं, शुद्ध चैतन्य ऊपर आ जाता है, तब हम आत्मा का जीवन जीते हैं, अध्यात्म का जीवन जीते हैं।

आज एक विपर्यय हो रहा है। आदमी आत्मा और चैतन्य को पाना चाहता है, आदतों को बदलना चाहता है, इन्द्रियों की उद्दामता पर अंकुश लगाना चाहता है, मन की चंचलता को मिटाना चाहता है, पर आत्मा का अनुभव करना नहीं चाहता। अनुभव के बिना दूसरे कार्य कैसे संभव होंगे? योग के आचार्य ने लिखा है—

'मुक्त्वा विविक्तमात्मानं, येऽन्यं द्रव्यमुपासते।
ते भजन्ते हिमं मूढ़ा, विमुच्यग्नि हिमच्छिदे।।'

—एक ओर बर्फ है, दूसरी ओर अग्नि जल रही है। कुछ लोग शीत को मिटाना चाहते हैं, पर अग्नि को छोड़कर बर्फ के सामने जाकर बैठते हैं। कैसे मिटेगी ठंड। एक ओर है आत्मा, दूसरी ओर है मूर्च्छा पैदा करने वाले इन्द्रियों के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विषय और पदार्थ। मूर्च्छा की सन्निधि में रहने वाला व्यक्ति आत्मा का स्पर्श कैसे कर पाएगा? वह आत्मा या चैतन्य का अनुभव कैसे कर सकेगा?

जब तक शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं होगा तब तक मूर्च्छा को तोड़ा नहीं जा सकता और जब तक मूर्च्छा नहीं टूटती तब तक स्वाभाविक अनुशासन को जीवन में फलित नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों पर, मन और भावों पर अनुशासन तभी संभव है जब हम चैतन्य की सन्निधि प्राप्त करें, उसके पास बैठें, उसका अनुभव करें। यह अनुशासन जब फलित होता है तब आत्मा का साक्षात्कार होने लग जाता है।

कुछेक व्यक्ति आत्मा को पाना चाहते हैं पर अनुशासन लाना नहीं चाहते। पर यह संभव नहीं है। अनुशासन के बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

एक व्यक्ति ने कबीर से पूछा—'क्या आपने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया?'

कबीर ने कहा—हां, कर लिया!

क्या आप मुझे भी आत्म-दर्शन करा सकते हैं?

हां, करा सकता हूं।

तो कराइए, मैं तैयार हूं।

कबीर ने कहा—'थोड़ा ठहरो। अभी विधि बता देता हूं।' वह बैठ गया। कबीर ने अपनी पत्नी को बुलाया। वह आई। कबीर बोला—घी का बर्तन ले आओ। वह घर में गई और घी का बर्तन ले आई। उसने कबीर से पूछा—और क्या आज्ञा है? कबीर बोला—यह मिट्टी पड़ी है। इसमें घी डालकर इसका 'गारा' बनाओ। पत्नी ने तत्काल घी का बर्तन मिट्टी में खाली कर डाला। मिट्टी को घी में मिलाया, रौंदा और गारा तैयार हो गया। वह आगंतुक सब देख रहा था। गारा तैयार कर पत्नी ने कबीर से पूछा—अब क्या करूं? कबीर ने कहा—इस गारे से भीत को लीपो। पत्नी ने वैसे ही किया। कबीर बोला—'अब तुम जा सकती हो।' वह चली गई। कबीर ने उस आगंतुक व्यक्ति से कहा—देखा तुमने! यह है आत्मा का साक्षात्कार।

वह बोला—'यह कैसा आत्मा का साक्षात्कार!'

कबीर ने कहा—'इसी विधि से होगा आत्मा का साक्षात्कार। तुम जाओ, ऐसा करो। हो जाएगा आत्म-साक्षात्कार।'

उसके मन में उत्साह था। उसने सोचा, बहुत ही सीधा उपाय है आत्म-साक्षात्कार का। थोड़ा घी बरबाद होगा। यदि पांच-दस सेर घी के बदले

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा का साक्षात्कार होता है तो यह सौदा मंहगा नहीं है।

वह घर पहुंचा। तत्काल उसने पत्नी को बुलाया। वह आई। उसने कहा—'जाओ, शीघ्र घी से भरा बर्तन ले आओ।' पत्नी बोली—क्या कोई रसोई बनानी है? रसोई तो मैं बना ही रही हूं, फिर तुम घी का क्या करोगे? उसने कहा—'चिन्ता क्यों करती हो, ले आओ घी का बर्तन।' वह गई और घी का डिब्बा ले आई। वह बोला—'जाओ मिट्टी ले आओ।' पत्नी बोली—क्या पागल हो गये हो? मुझे काम नहीं है क्या? मिट्टी और घी का क्या करोगे? बहुत कहने पर पत्नी मिट्टी लाने गई और बड़बड़ाती हुई मिट्टी लेकर आई। पति बोला—इस मिट्टी में घी डालो और गारा बनाओ। यह सुनते ही पत्नी ने कड़क कर कहा—'क्या मदिरा पान कर आए हो? कहां चली गई बुद्धि? मिट्टी में घी डालूं और उसका गारा बनाऊं? कैसा पागलपन है?' पत्नी बहुत उत्तेजित हो गई। वह बेचारा देखता रहा। वह परेशान हो गया।

वह दौड़-दौड़ कबीर के पास आकर बोला—'महात्माजी! मुझे क्या बना डाला? आत्मा का साक्षात्कार तो नहीं हुआ, एक राक्षसी से साक्षात्कार हो गया।'

कबीर ने कहा—'तुम आत्मा का साक्षात्कार करने चले हो! जिस व्यक्ति का स्वयं का अनुशासन नहीं है, वह परिवार पर अनुशासन नहीं कर सकता। जो परिवार पर अनुशासन नहीं कर सकता, वह आत्म-साक्षात्कार भी नहीं कर सकता।'

आत्म-साक्षात्कार की पहली शर्त है—अपने पर अनुशासन। यह अनुशासन ध्यान के प्रयोग के बिना फलित नहीं हो सकता। धर्म का प्रयोग ध्यान का ही प्रयोग है। ध्यान और धर्म अलग-अलग नहीं है। ध्यान की पूरी प्रक्रिया भावशुद्धि की प्रक्रिया है। ध्यान का अभ्यास करने वाला भावशुद्धि का अभ्यास करता है। ध्यान का अभ्यास भावशुद्धि से किया जाता है और भावशुद्धि के लिए किया जाता है। भावशुद्धि के बिना किया जाने वाला अभ्यास मूल्यवान नहीं होता। ध्यान प्रक्रिया के जितने आयाम हैं, उन सबका प्रयोजन एक ही है और वह है भावशुद्धि। इससे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। स्वास्थ्य भी सुधरता है, बीमारी भी मिटती है, पर ये सब प्रासंगिक लाभ हैं। मुख्य है चैतन्य का अनुभव। जो व्यक्ति आसन आदि को केवल स्वास्थ्य लाभ के लिए करते हैं, वे आसन की प्रयोजनीयता के मूल्य को कम कर देते हैं। आसन से स्वास्थ्य मिलता है, पर यह बहुत छोटा लाभ है।

आचार्य भिक्षु का यह सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है—पुण्य के लिए धर्म

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मत करो। पुण्य के लिए किया जाने वाला धर्म बहुत छोटा हो जाता है, परमार्थ का नहीं रहता। धर्म करो केवल निर्जरा के लिए, केवल आत्मशुद्धि के लिए। उन्होंने कहा—खेती करने वाला किसान अनाज के लिए खेती करता है, घास-फूस के लिए नहीं। घास-फूस अनाज के साथ होने वाली चीजें हैं। जहां धर्म होता है, वहां पुण्य अपने आप होता है। पुण्य के लिए अलग से प्रवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी एक भी प्रवृत्ति नहीं है, जिसमें केवल अकेला पुण्य होता है। वह होगा धर्म के साथ ही।

यह एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक सूत्र है कि अध्यात्म को समझने वाला व्यक्ति जो भी आचरण करे, वह आत्मशुद्धि के लिए करे, निर्जरा के लिए करे, भावशुद्धि के लिए करे। स्वास्थ्य लाभ आदि अन्यान्य उपलब्धियां स्वतः होंगी। अध्यात्म से भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी मिलता है। ये सब प्रासंगिक फल हैं।

हमारी बुरी भावधारा ने ही तो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बिगाड़ा है। जब भावशुद्धि होगी, विधायक भावधारा प्रवाहित होगी, तब ये सारे लाभ स्वतः प्राप्त हो जाएंगे।

भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति का रूपांतरण होता है फिर समाज का भी रूपांतरण हो जाता है। आज की सामाजिक समस्या यह है कि हम मूल की चिंता नहीं करते, फूल पत्तियों की चिंता करते हैं। हमें पतझड़ की जितनी चिंता है, उतनी चिंता नहीं है मूल के बिगड़ने की। हम समस्याओं को ऊपरी उपायों से सुलझाना चाहते हैं। वे सुलझती नहीं। एक बार वे सुलझती-सी लगती हैं, पर आगे जाकर उलझ जाती हैं। पता नहीं, भारतीय लोगों ने उस स्वर्णिम सूत्र को क्यों भुला दिया, जिसका प्रतिपादन प्राचीन आचार्यों ने किया था। वह समस्या के समाधान का सूत्र था। आज हमारे समक्ष समस्या के समाधान का एक मात्र सूत्र है पदार्थ। पदार्थ का विकास करना, उसे बढ़ना। पदार्थ के अतिरिक्त समस्या का कोई समाधान ही नहीं रहा। क्या धन में इतनी शक्ति है कि वह सारी समस्याओं का समाधान कर दे? हो सकता है, वह कुछेक समस्याओं का समाधान कर दे। उसमें शक्ति है। मैं उसे व्यर्थ नहीं बताता। वह रोटी, पानी, कपड़े की समस्या को हल कर देगा। वह समस्या एक बार दब जाएगी। पदार्थ का स्वभाव है कि वह समस्या का पूरा समाधान नहीं देता। वह समस्या को दबा देता है। मैं ऐकांतिक बात नहीं कर रहा हूं कि पदार्थ सर्वथा अनुपयोगी है। उसका भी उपयोग है, मूल्य है। हमें उसकी उपयोगिता का सीमाबोध होना चाहिए। अमुक पदार्थ हमारे लिए कितना उपयोगी है। यह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सीमाबोध बहुत आवश्यक है। आज का प्रत्येक व्यक्ति पदार्थ को असीम शक्ति-सम्पन्न मान बैठा है। यह विश्वास मिटना चाहिए।

ध्यान का उद्देश्य है—सीमा विवेक का जागरण करना। पदार्थ की और चैतन्य की सीमा एक नहीं है। दोनों की भिन्न-भिन्न सीमाएं हैं। जहां मानसिक दुःख है, पागलपन है, भावनात्मक समस्याएं हैं, वहां पदार्थ काम नहीं देता। वहां केवल धर्म या ध्यान ही काम देता है। यह विवेक स्पष्ट हो जाना चाहिए।

जब यह विवेक स्पष्ट होता है तब अनुशासन की शक्ति विकसित होती है। अनुशासन के बिना न व्यक्ति अच्छा हो सकता है और न समाज अच्छा हो सकता है। आरोपित अनुशासन से भी व्यक्ति या समाज बहुत दूर तक अच्छा नहीं रह सकता। जब तक व्यक्ति और समाज में स्वाभाविक अनुशासन न जाग जाए तब तक समस्याओं का स्थायी समाधान दुर्लभ है। इस दृष्टि से ध्यान की मूल्यवत्ता सर्वोपरि है। ध्यान के द्वारा केवल योगी ही नहीं बना जाता। उससे जीवन व्यवहार सुधरता है, इसलिए पूरे समाज को ध्यानी बनना चाहिए, योगी बनना चाहिए। केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए नहीं, शांतिमय और सुखमय जीवन जीने के लिए भी योगी बनना आवश्यक है।

आज प्रत्येक व्यक्ति के पास इतने अधिकार आ गए हैं कि अध्यात्म के बिना उन पर नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। पुराने जमाने में जो अधिकार एक राजा के होते थे, वे अधिकार आज एक सामान्य व्यक्ति के पास हैं। इन अधिकारों का दुरुपयोग न हो, शक्तियों और वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा उपकरणों का दुरुपयोग न हो, सदुपयोग हो इस दृष्टि से भी आज पूरे समाज को ध्यानी बनने की आवश्यकता है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक समस्याओं का एकमात्र समाधान है अध्यात्म। जो व्यक्ति केवल क्रियाकांडों और उपासनाओं के द्वारा धर्म के हृदय तक पहुंचना चाहते हैं, वे भटक जायेंगे—'नो हब्बाए नो पाराए'—वे न इधर के रहेंगे और न उधर के रहेंगे।

आज यह सशक्त अपेक्षा है कि हम सतह में न रहें। सागर के बीच गहरी डुबकियां लें। डुबकियां लेने वाला अमूल्य रत्नों को उपलब्ध कर सकता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यथार्थवादी दृष्टिकोण

युग की अपेक्षा है आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण। यह केवल युगीन अपेक्षा ही नहीं है, यह समाज की शाश्वत अपेक्षा है।

दो प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—भौतिक व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यक्तित्व। भौतिक व्यक्तित्व की जो कुछ रेखाएं खींची जाती हैं, वे दूसरे प्रकार की होती हैं। अहंकार और ममकार की रेखाओं से जिस व्यक्तित्व का निर्माण होता है, वह भौतिक व्यक्तित्व होता है। जिस व्यक्तित्व का निर्माण सचाइयों के आधार पर होता है, काल्पनिक रेखाओं के आधार पर नहीं होता, वह आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है।

समाज में सबसे बड़ा प्रश्न है सम्बन्धों का। व्यक्ति अकेला नहीं है। वह समाज का जीवन जी रहा है। सामाजिक जीवन का अर्थ है सम्बन्धों का जीवन। सम्बन्ध ही सम्बन्ध। पदार्थ के साथ संबंध, परिवार के साथ संबंध, गांव और राष्ट्र के साथ संबंध। इन संबंधों की पूरी श्रृंखला है। सामाजिक प्राणी इस श्रृंखला से बंधा हुआ है। संबंध छोड़े नहीं जा सकते। आध्यात्मिक व्यक्ति भी संबंधों को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। जब तक जीवन यात्रा चलती है तब तक संबंध भी बने रहते हैं। वे छूटते नहीं। सदेह अवस्था में संबंध नहीं छूटते। विदेह अवस्था में संबंध नहीं रहते। जब तक शरीर है, इंद्रियां है, मन है तब तक सारे संबंध छोड़े नहीं जा सकते।

संबंधों का जीवन आध्यात्मिक व्यक्ति को भी जीना पड़ता है पर दोनों के जीवन में बहुत बड़ा अन्तर होता है। भौतिक व्यक्ति अहंकार और ममकार के साथ संबंध जोड़ता है। उसका कोई भी संबंध ऐसा नहीं होता, जिसकी पृष्ठभूमि में अहंकार न बोलता हो या ममकार की परछाई न हो। दोनों होते हैं। 'मैं हूं'—यह अनुभूति शाश्वत अनुभूति है। अपने अस्तित्व की अनुभूति है—'अहं अस्मि'—मैं हूं। किन्तु आदमी जब अहंकार के साथ जुड़ता है तब 'मैं हूं'—यह अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ प्रयोग नहीं होता, प्रतिष्ठा-पद के साथ जुड़ा हुआ प्रयोग होता है। 'मैं हूं' का अर्थ तब हो जाता है—मैं धनवान हूं, मैं शासक हूं, 'मैं शक्तिशाली हूं' आदि-आदि। अस्तित्वबोध का अहं खतरा पैदा नहीं करता किंतु दूसरे अहं बहुत बड़े खतरे पैदा कर देते हैं। अहं व्यक्ति को बांट देता है—यह छोटा है, मैं बड़ा हूं। यह नौकर है इसलिए छोटा है, मैं मालिक हूं इसलिए बड़ा हूं। आदमी आदमी के बीच एक भेदरेखा खिंच जाती है। आदमी को विभक्त करने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की पहली रेखा है अहंकार। वह अपने आपको एक रूप में देखता है, दूसरे को दूसरे रूप में। मैं कुलीन हूं, यह कुलीन नहीं है। मैं स्पृश्य हूं, यह अस्पृश्य है। ये सारी भेद रेखाएं अहंकार के आधार पर खींची हुई हैं। पूरा समाज इन रेखाओं से भरा पड़ा है। कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है। जब हम जातिवाद की रेखाओं पर सोचते हैं तब लगता है—कितना विभक्तिकरण हुआ है इससे? विभाग ही विभाग। प्रारंभ में समाज चतुर्वर्ग—चार वर्गों में ही विभक्त था। उसके अवान्तर विभाग और भेद रेखाएं इतनी हो गईं कि आदमी कहां है, बेचारे का पता ही नहीं चलता। आदमी तो कभी पहचाना ही नहीं जाता। एक जाति में भी इतनी अवान्तर जातियां हैं कि आदमी उसके नीचे दबा पड़ा है, उसका पता ही नहीं है।

दूसरा तत्त्व है—ममकार। यह भी बांटता है आदमी को। ममकार का अर्थ है—मेरा। जिसके साथ 'मेरा' शब्द जुड़ गया, वह भिन्न वस्तु हो गई और जिसके साथ 'तेरा' शब्द जुड़ गया, वह भिन्न वस्तु हो गई। आदमी भी अलग हो गया। मेरा बेटा—बेटा अलग हो गया, 'मेरा' अलग हो गया। वह भी बंट गया। 'मेरा घर और तेरा घर'—एक दिवार खिंच गई। दो सगे भाई भी जब 'मेरे' 'तेरे' में होते हैं तो बीच में दीवार खिंच जाती है।

अहंकार ने व्यक्ति को बांटा है। ममकार ने भी व्यक्ति को बांटा है। इस प्रकार भौतिक व्यक्तित्व का अर्थ होता है व्यक्तियों को तोड़ना, बांटना।

आध्यात्मिक व्यक्ति तोड़ता नहीं, जोड़ता है। वहां तोड़ने वाला कोई तत्त्व नहीं होता। इसी सचाई को प्रकट करने के लिए यह घोषणा की गई थी—'एक्का मणुस्सजाई'—मनुष्य जाति एक है। भौतिक मुंह से वह शब्द कभी उच्चरित नहीं हो सकता। जिस मंच से यह घोषणा हुई, वह आध्यात्मिक मंच था। वहां व्यक्ति व्यक्ति में कोई भेद का अनुभव नहीं किया गया। सभी मनुष्यों को एक ही रूप में देखा और जाना गया। मनुष्य जाति के सिवाय कोई दूसरी जाति ही नहीं है।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में पदार्थ का भोग होगा। आध्यात्मिक व्यक्तित्व खाएगा, पीएगा, कपड़े भी पहनेगा, मकान में भी रहेगा। वह सब कुछ करेगा, पर तोड़ेगा नहीं। वह यह कभी नहीं कहेगा—मेरा कपड़ा, मेरा मकान। वह कहेगा—इस मकान में मैं अभी रह रहा हूं। यह कपड़ा मेरे पहनने के काम आ रहा है। गांवों में जब लोगों से पूछते हैं—यह मकान तुम्हारा है? घर का मालिक कहता है—'मकान किसका! भगवान का है महाराज। मैं यहां रहता हूं।' इस कथन के पीछे एक सिद्धांत है, ममत्व नहीं है। मकान किसका हो सकता है? किसी का नहीं हो सकता। यह सचाई है—आज तक भी यह संपदा और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भूमि किसी की नहीं बनी। इसीलिए कहा जाता है, यह संपदा और भूमि शाश्वत कन्याएं हैं, कुंआरी कन्याएं हैं। आज तक इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ, विवाह नही हआ। सम्पत्ति शाश्वत कुंआरी है। अनन्त काल बीत जाने पर भी वह वैसी ही है और वैसी रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व जोड़ना—ये दोनों भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक नहीं हैं। भौतिक व्यक्तित्व में पदार्थ का उपभोग अवश्य होता है, पर ममत्व नही जुड़ता। उसमें 'पदार्थ' और 'मेरा' अलग रहते हैं, जुड़ते नहीं।

सब जानते हैं कि मेरा कुछ भी नहीं है, फिर भी काल्पनिक रेखाएं खींची जाती हैं और हर किसी को 'मेरा' मान लिया जाता है। मेरा कुछ होता ही नहीं। सारा धोखा होता है। जब आदमी ठगा जाता है तब भान होता है कि जो 'मेरा' नहीं था, उसे 'मेरा' मानकर बहुत बड़ी भूल की। सारा संसार इस धोखे की अनुभूति कर चुका है, कर रहा है और करता रहेगा। यह भौतिक व्यक्तित्व की प्रकृति है। इससे बचा नहीं जा सकता।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर निर्मित होता है और भौतिकवादी व्यक्तित्व काल्पनिक रेखाओं के आधार पर निर्मित होता है। यह भ्रांति न रहे कि आध्यात्मिक व्यक्ति पदार्थ का उपभोग नहीं करता। वह पदार्थ का उपयोग और उपभोग करता है और वास्तव में वही पदार्थ का सही उपभोग करता है। भौतिकवादी पदार्थ का उपभोग कम करता है, दुःख का उपभोग अधिक करता है। वह प्रत्येक चीज के साथ दुःख को जोड़ देता है।

एक बहिन ने कहा—ध्यान की साधना करने से पूर्व घर के प्रति अत्यन्त मोह था। अब वह क्षीण होता जा रहा है। उसकी सघनता मिट रही है। घर में रहती हूं पर कोई मोह नहीं है। छोड़ आती हूं तो कोई कष्ट नहीं होता।

एक भाई ने कहा—मेरी पत्नी अभी शिविर में है। उसके लिए घर छोड़कर बाहर जाना सबसे बड़ी समस्या है। मैंने उससे बात की। मुझे प्रतीत हुआ कि अब उसमें घर के प्रति वह मोह नहीं रहा, जो पहले था। उसका मोह शनैः शनैः क्षीण हो रहा है, यह उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

जब आध्यात्मिक व्यक्ति बनता है तब सबसे पहले अहंकार और ममकार की बेड़ियां टूटती हैं। जब तक ये बेड़ियां नहीं टूटती तब तक कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता। समस्याओं को पैदा कौन कर रहा है? आदमी जो दुःख दे रहा है, उस दुःख का कर्त्ता कौन है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मनुष्य अपने आप समस्याओं को पैदा करता है। वही दुःख को उत्पन्न करता है। एक प्रिय व्यक्ति चला जाता है। जो चला गया, उसको कोई दुःख नहीं है। जो मर गया, उसका क्या हो? पीछे रहने वाले दुःख करते हैं, रोते हैं, बिलखते हैं? क्या मरने वाला भी रोता है, बिलखता है? वह भी तो यहां से बिछुड़ा है। पर मरने वाला रोता नहीं। दूसरे इसलिए रोते हैं कि उन्होंने मान लिया था, यह मेरा है। यह सत्य का अतिक्रमण है, सचाई को झुठलाने का प्रयत्न है। यह शाश्वत नियम है—सम्बन्धों की इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है। यदि कोई किसी का होता तो कोई किसी को छोड़कर नहीं जाता। हम यह अनादिकाल से अनुभव कर रहे हैं कि व्यक्ति चला जाता है, धन चला जाता है, सत्ता और संपदा चली जाती है। यदि ये यथार्थ होते, संबंध शाश्वत होते तो कोई किसी को छोड़कर कभी नहीं जाता।

आदमी दुःखी क्यों होता है? यथार्थ में देखें तो प्रिय व्यक्ति के चले जाने का दुःख नहीं है किन्तु जो 'ममत्व' और 'मेरापन' पाल रखा था, उसका दुःख है। यह 'मेरा था—इसका दुःख है। जहां असत्य के आधार पर जीवन चलता है, वहां समस्याएं ही समस्याएं उभरती रहती हैं। हमें सचाई के निकट रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सत्य की दिशा में प्रस्थान, सत्य के निकट जाने का अभ्यास। सत्य को झुठलाने का प्रयत्न नहीं करना ध्यान की उपलब्धि है। ध्यान के अभ्यास से गुजरने के बाद भी यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं बना तो मान लेना चाहिए कि ध्यान सधा नहीं। ध्यान की निष्पत्ति है—सचाई का जीवन जीना। जब आदमी सचाई का जीवन नहीं जीता है तब व्यावहारिक समस्याएं बहुत पैदा हो जाती हैं।

एक लड़के ने मां के लिए एक सुन्दर साड़ी भेजी। उसने पत्र में लिखा—इस साड़ी के सौ रुपये लगे हैं। साड़ी मनपसन्द थी। उसे लगा, ऐसी साड़ी के सौ रुपये अवश्य लगे होंगे। पास-पड़ौस की औरतें आईं। बातचीत में उसने अपने लड़के द्वारा भेजी साड़ी का जिक्र किया। दिखाई। दूसरी दूसरी औरतों ने मूल्य पूछा। उन्हें जानकर यह आश्चर्य हुआ कि इतनी बढ़िया और सुन्दर साड़ी सौ रुपयों में कैसे आई? एक बहिन बोली—मैं इसके ढाई सौ रुपये देती हूं, यह साड़ी मुझे दे दो। उसने दे दी। डेढ सौ रुपए की कमाई हुई, यह सोचकर वह प्रसन्न हो गई।

कुछ दिनों बाद लड़का आया। उसने पूछा—मां! साड़ी पसन्द तो आई

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होगी? तूने उसका उपयोग किया या नहीं? मां बोली—मैंने तो ढाई सौ रुपयों में बेच दी। लड़का बोला—मां! तूने अन्याय कर डाला। वह एक हजार रुपयों की साड़ी थी। मां ने कहा—अरे, तूने तो लिखा था कि वह सौ रुपयों की साड़ी है। बेटा बोला—मैंने डर के मारे लिखा था। मुझे भय था कि मां कहेगी—इतना खर्चा क्यों किया?

असत्य के आधार पर चलने वाला जीवन किस प्रकार धोखा खाता है इसका यह मार्मिक उदाहरण है। न जाने ऐसा धोखा कौन नहीं खाता। बहुत लोग ठगे जाते हैं। झूठ पर हमारा विश्वास जम गया, पर क्यों जमा? कहा तो यह जाता है कि झूठ बोलने वाले का विश्वास नहीं होता। यह कहते भी जाते हैं, इसकी दुहाई भी देते हैं और झूठ पर विश्वास भी जमाए रखते हैं। बड़ी विचित्र स्थिति है। यह दोहरे व्यक्तित्व की प्राप्ति ही तो भौतिक व्यक्तित्व का परिणाम है। हमें दुहाई कुछ दी जाती है और आचरण कुछ और ही होता है। ये सारी समस्याएं भौतिक व्यक्तित्व की समस्याएं हैं। आध्यात्मिक व्यक्तित्व यथार्थ के आधार पर खड़ा होता है, उसमें ये समस्याएं नही होतीं। आध्यात्मिक न झूठ का सहारा लेता है और न किसी को धोखा देता है। वह सत्य के साथ इतना जुड़ा हुआ होता है कि जहां भी सत्य का अतिक्रमण होता है वहां से अपने आपको पीछे सरका लेता है। लोग अनुभव कर सकते हैं कि ये सारी काल्पनिक बातें हैं। सचाई से कभी जीवन चल सकता है? सारी कल्पना ही कल्पना है। आदमी की मूढ़ता इतनी गहरा गई है कि जो काल्पनिक है, उसे यथार्थ मान रहा है और जो यथार्थ है, उसे अस्वाभाविक या काल्पनिक मान रहा है। यह अभिप्राय या विपर्यय एक-दो व्यक्तियों का नहीं है, समूचे युग का है। आज के युग का दृष्टिकोण ही उल्टा हो गया। भौतिक व्यक्तित्व की देन है मूढ़ता। मूढ़ता में जीना और मूढ़ता को पालते जाना, यह भौतिकवादी दृष्टि का लक्षण है। यदि यह दृष्टिकोण न हो तो भौतिकवाद ही समाप्त हो जाए।

आज यह आस्था बन गई है कि सचाई से कुछ हो नहीं सकता। सचाई से काम नहीं चल सकता। झूठ से काम चलता है। इसी आधार पर जीवन की सारी प्रक्रिया चलती है। आज का व्यक्ति माता-पिता से झूठ बोल सकता है, भाई और मित्र से झूठ बोल सकता है, पत्नी से झूठ बोल सकता है, धर्म गुरुओं को भी वह नहीं छोड़ता। वहां भी झूठ का व्यवहार कर लेता है। क्योंकि उसकी आस्था है झूठ के सहारे दो मिनट में काम बन जाता है और सत्य से काम ही नहीं बनता। ये तर्क देने वालों ने कभी यह नहीं सोचा कि झूठ से काम बनता है या झूठ पाल रहे हो, इससे काम बनता है? तुम भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

झूठ पाल रहे हो और काम बनाने वाला भी झूठ पाल रहा है। दोनों झूठ पाल रहे हो इसलिए काम बनता है। आदमी बेइमानी को छिपाना चाहता है, बुराई करना चाहता है और तब करता है, जब झूठ का सहारा मिल जाए।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में चिंतन की धारा बदल जाती है। वह कभी गलत काम करना ही नहीं चाहता। उसे झूठ के सहारे की कभी जरूरत ही नहीं होती। झूठ का सहारा तब चाहिए जब कोई गलत काम को संभालना हो या उसे पालना हो। जो व्यक्ति यथार्थ की भूमिका पर ही काम करता है। वह सोचता है—काम बने या न बने, मुझे झूठ का सहारा कभी नहीं लेना है। झूठ के सहारे जो काम बनता है, वह काम भी झूठा ही होता है।

आज की सबसे विकट समस्या है भौतिक व्यक्तित्व का विकास। हम इसे पदार्थ विकास के साथ न जोड़ें। पदार्थ का विकास होना भौतिक व्यक्तित्व का विकास नहीं है। पदार्थ का विकास आध्यात्मिक व्यक्ति भी कर सकता है क्योंकि पदार्थ एक अपेक्षा है, आवश्यकता है। आज का आदमी पदार्थ से इतना जुड़ गया है कि उसका दृष्टिकोण पदार्थ-परक बन गया।

ध्यान और धर्म की निष्पत्ति यह है कि पदार्थ और चेतना के बीच की रेखा स्पष्ट ज्ञात रहे। जब पदार्थ और चेतना की भेद रेखा विस्मृत हो जाती है तब सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। हमारा यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से निष्पन्न हो कि पदार्थ पदार्थ है, चेतना चेतना है। दोनों के बीच में एक भेदरेखा है।

साधक कायोत्सर्ग करते हैं। क्या वे इसीलिए करते हैं कि विश्राम मिल जाए, रक्तचाप कम हो जाए, शरीर की क्रियाएं संतुलित हो जाएं? यदि इन्हीं कारणों से किया है तो उन्होंने शवासन किया है, कायोत्सर्ग नहीं। श्वासन का अर्थ है—मुर्दे का आसन। जब उस आसन में चेतना नहीं है तो वह शव आसन ही है। उसमें चेतना छूट जाती है और मुर्दे का भान होता रहता है। कायोत्सर्ग शवासन नहीं है, वह उससे भिन्न है। कायोत्सर्ग में चेतना का आभास होता है, शरीर छूटता है। काया का उत्सर्ग करने वाला चेतन बच जाता है। एक में चेतन बचता है और दूसरे में शरीर बचता है। दोनों शब्द यही स्पष्ट ध्वनित करते हैं, दोनों शब्दों का अपना गहरा अर्थ है। कायोत्सर्ग में जो जाता है, वह चेतन है, द्रष्टा है, वह काया को छोड़ता है। दोनों के बीच में एक रेखा है। तुम अलग हो, मैं अलग हूं। हम दोनों साथ-साथ जी रहे हैं, किन्तु कायोत्सर्ग में मैं इस सचाई का अनुभव कर रहा हूं कि तुम तुम हो, मैं मैं हूं। यदि इस सचाई का अनुभव नहीं होगा तो कायोत्सर्ग नहीं होगा, कोरा शवासन होगा।

भावना शुद्धि के लिए भावना का विकास अपेक्षित है। हर क्रिया के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साथ भाव जुड़ना चाहिए। प्रत्येक क्रिया के साथ चैतन्य का अनुभव होना चाहिए। चैतन्य हमारा यह है—चेतना अलग है, शरीर अलग है। शरीर से भिन्न चेतना का अनुभव करना चैतन्य है, जागरूकता है। कायोत्सर्ग देहाध्यास को मिटाने की महत्त्वपूर्ण साधना है। इससे विवेक चेतना का जागरण होता है। विवेक चेतना है—शरीर अलग है, मैं अलग हूं। जब शरीर के साथ भी ममकार नहीं रहा तो फिर अन्य पदार्थ के साथ भी ममकार नहीं रहेगा। सारे ममकार का जनक है शरीर। शरीर के प्रति जितनी गहरी मूर्च्छा होती है, उतनी गहरी मूर्च्छा पदार्थों के साथ भी होती चली जाती है। जिस व्यक्ति का अपने शरीर के प्रति ममत्व छूट गया, जिसने चैतन्य का शरीर से पृथक अनुभव कर लिया, वह कभी शरीर के प्रति मूर्च्छावान नहीं हो सकता। जब देहाध्यास प्रबल होता है, देहासक्ति का प्राबल्य होता है तब शरीर के प्रति मूर्च्छा जागती है और भौतिक अस्तित्व के प्रति आसक्ति जाग जाती है। तब उसके सामने केवल भौतिक अस्तित्व ही दृश्य होता है, वह दूसरी बात को देख ही नहीं पाता।

कायोत्सर्ग का प्रयोग चैतन्य के जागरण का प्रयोग है। पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक, प्रत्येक अवयव के प्रति जाग जाना, शरीर के प्रति जागृत हो जाना, शरीर के प्रकृति को समझ लेना, शरीर की सचाइयों को जान लेना, प्राणधारा को जान लेना—यह सारी फलश्रुति है कायोत्सर्ग की। जो व्यक्ति इतना जागरूक हो जाता है, वह साक्षात्कार की भूमिका में चला जाता है। आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार से पहले हम अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार करें। यह जान लें कि हमारा व्यक्तित्व क्या है? यह किन-किन तत्त्वों से बना है? इसका साक्षात्कार होता है कायोत्सर्ग के द्वारा।

पुराने जमाने की बात है। सम्राट के मन में स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा को पूरी करने के लिए वह अनेक स्थानों पर गया। अनेक व्यक्तियों से मिला पर स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार कराने वाला कोई नहीं मिला।

एक बार नगर में एक संन्यासी आया। लोगों में चर्चा हुई। उसकी शक्तिसंपन्नता की बात सम्राट तक पहुंची। सम्राट वहां गया, उसने प्रार्थना की—महाराज! स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार कराएं। संन्यासी बोला—'राजन साक्षात्कार करके क्या करोगे? अच्छा नहीं है स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करना। भूल जाओ अपनी बात को।' सम्राट ने आग्रह किया। संन्यासी ने कहा—बैठ जाओ यहां। कुछ क्षण तक ध्यान करो! ध्यान किया। संन्यासी ने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तत्काल कहा—'अरे, सम्राट! कितना भद्दा है तुम्हारा चेहरा। यदि कोई अंधेरे में देख ले तो भूत समझकर डर जाए। अरे मुंह पर मक्खियां भनभना रही हैं, लार टपक रही है। तुम सफाई करना भी नहीं जानते। किसने बना दिया तुमको सम्राट!'

सम्राट ने सुना। वह अवाक रह गया। मुंह तमतमा उठा। होठ फड़कने लगे। त्यौरियां चढ़ गयीं। आंखों से खून बरसने लगा। इतना गुस्सा उतरा कि वह पागल-सा हो गया। उसने तलवार निकालकर कहा—तुम मुझे क्या नरक दिखाओगे, मैं अभी तुम्हें नरक का मजा चखाता हूं। तुमको विवेक ही नहीं है कि तुम किसके सामने बोल रहे हो? क्या कह रहे हो?

संन्यासी हंस पड़ा। वह बोला—'सम्राट नरक का साक्षात्कार हुआ या नहीं। सम्राट! देखो, जब-जब व्यक्ति आवेश में होता है, भान भूल जाता है, तब-तब वह नरक का साक्षात्कार करता है।' यह सुनते ही सम्राट संभला। वह गहराई में चला गया। उसने सोचा—'सचमुच, संन्यासी मुझे ठीक कह रहा है। मैंने गलत किया। पहले मुझे सोचना चाहिए था कि संन्यासी मुझे भला-बुरा क्यों कह रहा है! मैंने सोचा नहीं और क्रोध में आविष्ट हो गया।' सम्राट अनुताप करने लगा। उसने नम्रता के साथ संन्यासी के चरण छूए। वह बोला—महाराज! क्षमा करें। मैं भान भूल गया था। मैंने अपराध किया है। सम्राट के चेहरे पर शांति छा गई। जब उत्तेजना की तेजी के बाद शांति आती है तब वह और अच्छी होती है। उसके चेहरे पर सौजन्य का भाव झलकने लगा। विनय और श्रद्धा प्रगट हुई। संन्यासी ने तत्काल कहा—'सम्राट! तुम स्वर्ग का साक्षात्कार करना चाहते थे। तुम्हारी वर्तमान की भावधारा, स्थिति साक्षात स्वर्ग है।' सम्राट समझ गया।

जिसे स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करना है, वह अपने व्यक्तित्व को देखे। उसमें दोनों प्राप्त हैं। जब व्यक्ति गहराई में उतरकर देखता है—मेरा व्यक्तित्व कैसा है, तब उसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है। अपेक्षा है गहराई में जाने की, डुबकियां लेने की। यह बात प्रयोग के बिना संभव नहीं है। जिस व्यक्ति ने प्रयोग नहीं किया, अपने भीतर झांकने का प्रयत्न नहीं किया, केवल दो खिड़कियों (आंखों) को खुला रखा, भीतर देखने के लिए तीसरी खिड़की (तीसरी नेत्र) को खोला ही नहीं, वह इस सत्य को कभी नहीं पकड़ पाएगा। वह केवल शब्दों के जाल में उलझा रहेगा। उसकी उलझन कभी समाप्त ही नहीं होती।

उर्दू के प्रसिद्ध शायर मिर्जा साहब लखनऊ गए। सभा हो रही थी। कुछ लोग दिल्ली से आए। सभा में हंगामा हो गया। मिर्जा साहब ने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कहा—सब शांत रहें। सभा भंग क्यों करना चाहते हैं? परिषद से आवाज आई—'हमारा एक विवाद है। जब तक वह विवाद नहीं मिटेगा तब तक सभा नहीं होने देंगे।' मिर्जा साहब ने पूछा—क्या है विवाद? वे बोले—'हम निर्णय करना चाहते हैं कि रक्त शब्द पुल्लिंग है अथवा स्त्रीलिंग? हम दिल्ली वाले रक्त को स्त्रीलिंग मानते हैं और लखनऊ वाले पुल्लिंग मानते हैं। पर वास्तव में वह है क्या, इसका निर्णय अभी होना चाहिए।'

मिर्जा साहब बोले—बहुत छोटी बात है। जब स्त्रियां बैठी होती हैं तब रक्त स्त्रीलिंग होता है और जब पुरुष बैठे होते हैं तब रक्त पुल्लिंग होता है।

हम शब्दों की दुनिया में जीते हैं। शब्द का विवाद चलता ही रहता है। उसका कभी अन्त ही नहीं आता। जो व्यक्ति अनुभव में चला जाता है वह झगड़ा करता ही नहीं और जो अनुभव में नहीं जाता, वह कभी झगड़ा छोड़ता नहीं। जहां तर्क है वहां प्रतितर्क है। मान्यताओं और सिद्धान्तों की लड़ाइयां तर्क के आधार पर होती हैं। अनुभव के आधार पर कोई लड़ाई नहीं होती। अनुभव पर कोई जाना नहीं चाहता और लड़ाई को छोड़ना नहीं चाहता, यह एक समस्या है। इन सब समस्याओं से निपटने का उपाय है—अनुभव का जागरण। अनुभव के जागते ही सारी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसार कलश' (श्लोक 9) में लिखा है—'उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्। किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्, अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

—जब अनुभव जागता है तब न वाद काम देता है, न प्रमाण काम देता है, न निक्षेप काम देता है। ये सारे वाद और प्रमाण तथा निक्षेप न जाने कहां छिप जाते हैं। कहीं द्वैत लगता ही नहीं।

ध्यान का सबसे बड़ा परिणाम है—अनुभव का जागरण। जब ध्यान के द्वारा अनुभव नहीं जागता तो मानना चाहिए कि ध्यान निष्पत्ति पूरी नहीं है। ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति में कुछ न कुछ अनुभव जागता ही है। अनुभव का जागना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

चेतना के आयाम

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अतीत और भविष्य का संपर्कसूत्र

ध्यान करने वाले लोग चित्त का निरोध करना चाहते हैं। चंचलता को मिटाना चाहते हैं। चित्त चंचल है, यह उतना ही सत्य है जितना कि दिन में सूर्य का प्रकाश।

प्रश्न है—क्या चित्त की चंचलता को मिटाया जा सकता है? क्या चित्त का निरोध किया जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान हजारों वर्षों से खोजा जाता रहा है, खोजा गया है और उपायों का प्रयोग किया गया है।

चित्त चंचल क्यों है? जब तक हम मूल समस्या पर विचार नहीं करेंगे तब तक समाधान भी उपलब्ध नहीं होगा। चित्त चेतना है पर उतनी स्पष्ट नहीं है। जो अधिक स्पष्ट हो, उस पर ध्यान देना चाहिए। हम जहां हैं, जिस भूमिका पर जी रहे हैं, वहां सबसे निकट की वस्तु है शरीर। शरीर साथ है, दिखाई देता है। चित्त दिखाई नहीं देता। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने चित्त को देखा हो। किसी भी व्यक्ति को दूसरे का चित्त दिखाई नहीं देता। दूसरी व्यक्ति की बात छोड़ दें। अपना चित्त भी अपने आपको दिखाई नहीं देता। स्वयं का शरीर दिखाई देता है और दूसरे का शरीर भी दिखाई देता है।

समस्या का मूल सूत्र है शरीर में। हमें सबसे पहले शरीर पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। शरीर में ऐसी कौन सी प्रक्रिया हो रही है, जिससे चित्त की चंचलता निर्बाध गति से चल रही है। हमारे शरीर का महत्त्वपूर्ण भाग है—नाड़ी-संस्थान। चमड़ी, हड्डियां, मांस, रक्त, फेफड़ा, हृदय, गुर्दा—ये सब अवयव महत्त्वपूर्ण हैं, शरीर की यात्रा को संचालित करने वाले हैं। किसी एक अवयव में गड़बड़ी होती है तो पूरा शरीर अस्त-व्यस्त हो जाता है। किन्तु इन सभी अवयवों में जो चेतना की शक्ति है, जो संवेदन की शक्ति है, कुछ करने की शक्ति है, वह सारी नाड़ी-संस्थान से ही प्राप्त होती है। हमारे पूरे शरीर में नाड़ी-संस्थान फैला हुआ है। जब तक नाड़ी-संस्थान काम करता है, तब तक आदमी जीता है। नाड़ी-संस्थान का कार्य बंद होते ही आदमी का जीवन समाप्त हो जाता है। हमारे पूरे शरीर में दो प्रकार के नाड़ी-तंतु फैले हुए हैं। एक है—ज्ञानवाही तंतु और दूसरा है क्रियावाही तंतु। पूरे चर्म पर और चर्म बिन्दुओं पर ये फैले हुए हैं। इनका काम है बाहरी जगत से संपर्क और बाहरी संपर्क से प्राप्त संवेदन को मस्तिष्क तक पहुंचाना और मस्तिष्क में जो प्रतिक्रिया हो,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसे क्रियान्वित करना। ज्ञानवाही तन्तु बाहरी संदेशों को भीतर तक पहुंचाते हैं और कार्यवाही तन्तु भीतर से आने वाले निर्देशों को क्रियान्वित करते हैं। इस प्रकार बाहरी जगत के साथ संपर्क स्थापित करने वाले दो सूत्र हैं—1. ज्ञानवाही तंतु और 2. उनके सहयोगी या पूरक कार्यवाही तंतु।

चित्त में जो चंचलता उत्पन्न हो रही है, उसका शारीरिक कारण है—नाड़ी-संस्थान। नाड़ी-संस्थान चित्त को चंचल बना रहा है और चित्त की चंचलता नाड़ी-संस्थान को चंचल बना रही है। दोनों का पारस्परिक समझौता है। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। चित्त की चंचलता न हो तो नाड़ी-संस्थान की चंचलता कम हो जाएगी और नाड़ी-संस्थान की चंचलता न हो तो चित्त की चंचलता भी नहीं रहेगी। दोनों साथ-साथ चलते हैं।

जब-जब हम चंचलता को समाप्त करने का चिंतन करते हैं तब-तब सीधा चित्त को पकड़ना चाहते हैं। किसी अमूर्त्त या सूक्ष्म को पकड़ना हमारे लिए कठिन कार्य है। हम इसे जानते हैं, पर प्रयत्न सीधा उसी को पकड़ने का करते हैं। सीधा उपाय यही है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। पहले स्थूल को पकड़ जाए, फिर सूक्ष्म को पकड़ें। तब तो कुछ पकड़ में आ सकता है, किन्तु पहले ही यदि हम सूक्ष्म को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं तो कुछ भी पकड़ में नहीं आ सकता।

योग के आचार्यों ने सबसे पहले ध्यान का प्रतिपादन नहीं किया। जैन आचार्यों ने सबसे पहले आहार-संयम का सूत्र दिया, कायोत्सर्ग और इन्द्रिय संयम का सूत्र दिया, विनम्रता और प्रायश्चित्त का सूत्र दिया, अनुप्रेक्षा और जप का सूत्र दिया। इतना सब कुछ हो जाने पर ध्यान का प्रतिपादन किया।

हम सबसे पहले चित्त को पकड़ने का प्रयत्न न करें। पहले हम शरीर को पकड़ें, साधें। शरीर की चंचलता यानी—नाड़ी-संस्थान की चंचलता पर नियंत्रण स्थापित करें। उस पर नियंत्रण होगा तो चित्त पर अपने आप नियन्त्रण होगा, चित्त की चंचलता स्वयं कम होगी। हम सीधा चित्त को पकड़ना चाहते हैं। यह बात सुनने में भी अच्छी लगती है। यह कभी संभव नहीं है। भीतर के संस्कार या प्रवृत्ति काम कर रही है, संज्ञाएं काम कर रही हैं और बाहर में नाड़ी-संस्थान काम कर रहा है, इस प्रकार दोनों चंचलताओं से घिरा हुआ यह चित्त क्या कभी स्थिर बन सकता है? निर्विकल्प बन सकता है? यदि वह निर्विकल्प बन गया तो फिर जीवन-यात्रा चलेगी ही नहीं। हमारी सारी जीवन-यात्रा विकल्पों के आधार पर चलती है। यदि विकल्प न हों तो जीवन-यात्रा समाप्त हो जाएगी। संस्कार जीवन को चला रहे हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वृत्तियां और संज्ञाएं जीवन को चला रही हैं। निर्विकल्प का अर्थ होता है—सारी संज्ञाओं और वृत्तियों का समाप्त हो जाना, क्षीण हो जाना। इन वृत्तियों के क्षीण होने पर, मनुष्य के निर्विकल्प होने पर शरीर धारण संभव नहीं है। निर्विकल्पता परिणाम है। साधना करते-करते, एकाग्रता का अभ्यास करते-करते, चित्त पर और नाड़ी-संस्थान पर अभ्यास करते-करते एक निष्पत्ति आती है, एक बिन्दु आता है, जहां सारी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं, सारे संस्कार और सारी संज्ञाएं समाप्त हो जाती हैं, निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति में शरीर ज्यादा नहीं टिकता। बस, उतना ही टिकता है जितना की कोई संस्कार बच गया। उस संस्कार के मिटते ही यह शरीर छूट जाता है, आत्मा अलग, शरीर अलग, मोक्ष अवस्था उपलब्ध हो जाती है।

निर्विकल्पता शब्द बहुत मोहक है हम इसकी मोहकता में फंस जाते हैं। मुझे लगता है, लोग भटक जाते हैं। हम भटकाव में न जाएं, यथार्थ को जानकर चलें। इन संज्ञाओं, वृत्तियों और संस्कारों को पतला किया जा सकता है। किन्तु एक साथ समाप्त नहीं किया जा सकता। तीन बातें हैं—एक है मोटाई, एक है पतलापन और एक है क्षीणता। हमारी जितनी वृत्तियां, आवेग, आवेश और संस्कार हैं, उनकी मोटाई होती है, वह चंचलता पैदा करती है। यदि ये सब क्षीण हो जाएं तो बात समाप्त हो जाती है। यह बहुत आगे की अवस्था है। मोटाई पूरी अवस्था है। हमें बीच का मार्ग चुनना है। इन संस्कारों को कैसे पतला किया जा सके—यह सोचना चाहिए। पतला करना जरूरी है।

एक तपस्वी साधु था। आचार्य के पास आकर बोला—गुरुदेव! तपस्या करना चाहता हूं। गुरु ने आदेश दे दिया। तपस्या के बाद आकर बोला—गुरुदेव! अब आपका क्या निर्देश है? गुरु ने कहा—पतला करो। उसने दो उपवास और किए। फिर पूछा। गुरु ने कहा—पतला करो। वह तपस्या करता रहा। पूछता रहा। गुरु 'पतला करो' निर्देश देते रहे। शरीर पतला हो गया। मांस भूख गया, चमड़ी लटक गई। पचास दिन के बाद आया। पूछा—गुरुदेव! अब क्या निर्देश है? आचार्य बोले—'पतला करो।' यह सुनते ही उसका आवेग बढ़ा और उसने अंगुली एक झटके में तोड़कर नीचे गिरा दी। वह बोला—गुरुदेव! आप बार-बार कहते हैं 'पतला करो, पतला करो'—और कितना पतला करूं? आप देखते नहीं, शरीर सूख कर कांटा हो गया है, अंगुली एक झटके में टूट कर गिर पड़ी। और क्या, कितना पतला करूं? गुरु बोले—'वत्स! समझे नहीं। तूने पचास दिन का उपवास किया। पर गुस्सा उतना ही प्रबल है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गुस्से में आकर तूने एक झटके में अंगुली तोड़ दी। इसीलिए मैं कहता हूं अपने आवेग को, उत्तेजना को, कषाय को, संस्कार को पतला करो, क्षीण करो, प्रतनु करो।'

वृत्तियों को पतला करना है और नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण स्थापित करना है। यह द्विस्तरीय चक्रव्यूह चित्त की चंचलता के लिए घेराव बन जाता है।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का विधान किया। उन्होंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि बताए। उन्होंने आसन का विधान इसलिए किया कि आसन के द्वारा नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके। प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

एक भाई ने पूछा—त्याग करते हैं तब संवर होता है। संवर धर्म है। समता की साधना धर्म है। किन्तु सांस को देखना कौनसा धर्म है! प्रश्न टेढ़ा है, क्योंकि यह संस्कार जमा हुआ है कि त्याग करना धर्म है और सांस को देखना धर्म जैसा नहीं है।

मैंने कहा—क्या चित्त की चंचलता को मिटाना धर्म नहीं है?

उसने कहा—धर्म है।

क्या चित्त की चंचलता को मिटाने के लिए नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण करना धर्म नहीं है?

यह भी धर्म है।

श्वास प्रेक्षा के द्वारा नाड़ी-संस्थान पर नियन्त्रण होता है, क्या वह धर्म नहीं है?

समझ गया, वह भी धर्म है।

श्वास-दर्शन से नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण होता है और नाड़ी-संस्थान पर नियन्त्रण होने से चित्त की चंचलता पर नियन्त्रण होता है। हम आग में सीधा हाथ डालना चाहते हैं। बड़ी कठिनाई की बात है। लोग सांप को पकड़ते हैं तो मुंह से नहीं पकड़ते, पूंछ से पकड़ते हैं। पूंछ भी सांप है और मुंह भी सांप है। पर सांप को मुंह से पकड़ने का प्रयत्न नहीं करते। पूंछ पकड़ने में खतरा नहीं है, मुंह पकड़ने में खतरा ही खतरा है।

कोरे चित्त को पकड़ने का प्रयत्न सांप को मुंह की ओर से पकड़ने के प्रयत्न जैसा है। यह बहुत खतरनाक भी बन जाता है। उसे पकड़ा जाए नाड़ी-संस्थान के माध्यम से।

इस दृष्टि से हमारे समक्ष मुख्य प्रश्न है कि नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण कैसे किया जाए? पूरा शरीर, जिसमें जीवन प्रतीत होता है, वह केवल नाड़ी-संस्थान ही है। जीवन की अनुभूति नाड़ी-संस्थान के माध्यम से होती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मस्तिष्क और सुषुम्ना—ये दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं नाड़ी-संस्थान के। यहां नाड़ियों के बड़े स्तबक हैं। मस्तिष्क मुख्य केन्द्र है तो सुषुम्ना भी कम नहीं है। यह पीठ के पूरे भाग में फैली हुई है और मस्तिष्क में जाकर मिलती है। सुषुम्ना यहां समाप्त होती है। सुषुम्ना-शीर्ष आधे मस्तिष्क में मिलता है और उसी को ज्ञान केन्द्र कहते हैं। मस्तिष्क और सुषुम्ना का मिलन बिन्दु है ज्ञान-केन्द्र। साधना के क्षेत्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुषुम्ना से ही हमारी नाड़ियां ऊपर-नीचे फैलती रहती हैं। इन्द्रियां, जीभ, कान, आंख—इन सबका संबंध नाड़ी-संस्थान से है। हम कोई चीज खाते हैं, तत्काल उसकी सूचना मस्तिष्क तक पहुंच जाती है। खाने की इच्छा होती है तब मस्तिष्क से निर्देश होता है और खाते हैं तब सूचना चली जाती है। पानी की एक बूंद आकर हाथ पर गिरी और तत्काल मस्तिष्क तक सूचना पहुंच गई। यदि पानी गर्म है तो मस्तिष्क से निर्देश आ जाएगा कि दूर रहो, बचकर रहो। यदि पानी ठंडा है तो मस्तिष्क से निर्देश मिल जाएगा कि पी लो, स्नान कर लो। यह सारा कार्य नाड़ी-संस्थान के माध्यम से होता है। आंख ने कोई रूप देखा। सूचना मस्तिष्क तक पहुंच गई। रूप अच्छा लगा तो मस्तिष्क में एक प्रतिक्रिया पैदा हो गई और उसने चित्त को चंचल बना डाला। बाहरी जगत से जो संवेदना आती है, वह गहरी होती है तो मस्तिष्क में क्षोभ पैदा करती है और चित्त चंचल बन जाता है। बाहरी जगत की सारी संवेदनाएं, नाड़ी-संस्थान के माध्यम से चित्त को चंचल बना रही हैं। दूसरी ओर हमारे भीतर के संस्कार चित्त को चंचल बना रहे हैं।

आज का शरीर शास्त्र नाड़ी-संस्थान के विषय में अनेक जानकारियां देता है, किन्तु धर्म के विषय में उसकी कोई जानकारी नहीं है। संस्कार, वृत्ति और संज्ञा के विषय में उसका कोई ज्ञान नहीं है। ज्ञान आगे बढ़ तो रहा है, उसका विस्तार हो रहा है। पहले जहां केवल नाड़ी-संस्थान के विषय में ही सोचा जा रहा था, आज इन दशकों में आनुवंशिकता के क्षेत्र में बहुत चिन्तन हुआ है। "जीन" के विषय में नई-नई गवेषणाएं हुई हैं और इतने रहस्यों का उद्घाटन हुआ है कि यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है—आज का विज्ञान कर्म के परमाणुओं की खोज के निकट पहुंच गया है। 'जीन' को एक प्रकार से कर्म की ही खोज कहना चाहिए।

नाड़ी-संस्थान, आनुवंशिकता, कर्म, कर्म शरीर, कर्म शरीर के प्रभाव और कर्म शरीर से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाएं—संज्ञा, संस्कार, वृत्ति आदि—ये सारे चित्त की चंचलता के कारण हैं। ये चित्त को चंचल बनाने के साधन हैं। चंचलता को कम करने का उपाय है—एकाग्रता, चित्त का निरोध। अर्थ गलत समझ लिया गया। निरोध का अर्थ रुक जाना नहीं है, निर्विकल्प हो जाना नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन आगम उत्तराध्ययन का एक वाक्य है—'एकग्गं चित्तनिरोहं करेइ'—एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है। पर यहां निरोध का अर्थ रुक जाना नहीं है। निरोध का अर्थ है—एक बिन्दु पर टिक जाना।

किसी व्यक्ति ने पूछा—देवेन्द्र घर में है? उत्तर दिया—नहीं है। किसी ने सीधा पूछ लिया—देवेन्द्र है? उत्तर दिया—नहीं है। क्या देवेन्द्र मर गया? क्या उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया? नहीं। उत्तर देश-सापेक्ष या काल-सापेक्ष होता है कि अमुक व्यक्ति इस क्षेत्र में नहीं है या इस काल में नहीं है किन्तु उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ है। अस्तित्व तो है।

चित्त निरुद्ध हो गया, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें संस्कार का प्रवाह नहीं है। उसमें संस्कार का प्रवाह चल रहा है, विपाक हो रहा है, उदय हो रहा है, वृत्तियां जाग रही हैं, किन्तु वह एक वृत्ति पर इतना टिक गया, इतना रुक गया कि दूसरी सारी वृत्तियां उसके लिए व्यर्थ बन गई हैं, अकिंचित्कर हो गई हैं। कभी-कभी एक विषय के प्रति इतना गहरा आकर्षण पैदा हो जाता है कि आदमी उसमें तल्लीन हो जाता है, सामने घटने वाली घटना से भी अनजान रह जाता है। अनेक घटनाएं घटती हैं, पर एकाग्रता की स्थिति में आदमी को उसका भान नहीं रहता।

एकाग्रता का अर्थ है—एक विषय पर चित्त का निरुद्ध हो जाना। चित्त का टिक जाना। इसे सरल भाषा में यों कहा जा सकता है कि चित्त का एक आलंबन पर जम जाना एकाग्रता है। अनेक लोग कहते हैं—ध्यान में आलम्बन लेना जरूरी नहीं है। बस बैठ जाओ, आंखें बन्द कर लो, शरीर का शिथिलीकरण कर लो। इससे निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो जाएगी। यदि इतनी सीधी बात होती निर्विकल्प अवस्था की तो फिर सविकल्प ध्यान करने की आवश्यकता ही नहीं होती। भीतर से दबाव आ रहा है वृत्तियों का, बाहर से दबाव आ रहा है नाड़ी-संस्थान के द्वारा गृहीत संवेगों का, दोनों ओर के दबावों से घिरा हुआ आदमी और दोनों ओर से घिरा हुआ चित्त, फिर भी निर्विकल्प अवस्था की उपलब्धि! अनहोनी बात है। यह समझने की भ्रान्ति या गहराई से मनन करने की कमी के कारण हुआ है। हम किसी बात पर नहीं सोच रहे हैं, फिर भी हम निर्विकल्प नहीं हैं। नाड़ी-संस्थान बराबर काम कर रहा है। सर्दी का अनुभव हो रहा है तो निर्विकल्प अवस्था कहां है? गर्मी का अनुभव हो रहा है तो निर्विकल्प अवस्था कहां है? प्रकाश और अंधकार का अनुभव हो रहा है तो निर्विकल्प कहां है? निर्विकल्पता और सविकल्पता का भेद नहीं किया गया, यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एक बार बादशाह ने परीक्षा करनी चाही। दो हार बनवाए। एक हार असली फूलों का और दूसरा हार कागज के फूलों का। बादशाह ने सभी सभासदों से पूछा—बताओ, असली हार कौन सा है और नकली हार कौन सा है? असमंजस में पड़ गए। दोनों में भेद कर पाना संभव नहीं था। नकली हार भी बहुत सुन्दर और असली जैसा ही बना था। कोई सभासद बता नहीं पाया। बीरबल आया। उससे भी वही प्रश्न किया। बीरबल बोला—जहांपनाह! असली और नकली का भेद जानना सरल नहीं है। आप दोनों हारों को खुले में रख दें। फिर मैं उनकी पहचान करूंगा। बादशाह ने दोनों हार खुले आकाश में रख दिए। कुछ समय बीता। एक हार पर भौंरे मंडराने लगे। उसमें गुंथे फूलों का पराग लेने के लिए एकत्रित हो गए। दूसरे हार पर एक भी भौंरा नहीं गया। बीरबल ने तत्काल भौंरे मंडराने वाले हार को लेकर बादशाह से कहा—"जहांपनाह! यह हार असली है।" बादशाह ने कहा—कैसे पहचाना तुमने? बीरबल बोला—हुजूर! इन फूलों में जीवनीशक्ति है, मकरंद है। मकरंद के भूखे भौंरे, इसके इर्द-गिर्द मंडरा रहे हैं। यह असली फूलों का हार है। दूसरा हार कागज के फूलों का बना हुआ है। उसमें जीवनी-शक्ति नहीं है।

हमें असली और नकली का पता चल जाता है। चुम्बकीय शक्ति से, जीवनी शक्ति से, सरसता से। किन्तु जब हमारा ध्यान जीवनी-शक्ति की ओर नहीं जाता है तब भेद करना कठिन होता है।

निर्विकल्पता असली फूलों का हार है और सविकल्पता नकली फूलों का हार है। यह बाहरी बातों से बना हुआ है। बाहरी आघात-प्रत्याघात, संवेद, संवेग आते हैं, विकल्प बढ़ते हैं। यह सविकल्पता की स्थिति है। निर्विकल्पता की अवस्था को पहचान पाना असंभव तो नहीं है, पर कठिन अवश्य है। उसकी पहचान है—जहां सर्दी, गर्मी, अन्धकार, प्रकाश आदि-आदि संस्पर्शों, संवेदों का अनुभव होता है वह निर्विकल्प अवस्था नहीं है। जहां हमें इस बात का भान है कि 'मैं हूं, मेरा शरीर है, यह स्थान है, यह समय है'—ये सारे अनुभव होते हैं, यह निर्विकल्प स्थिति नहीं है। जहां भीतर की क्रियाएं जाग रही हैं वह निर्विकल्प स्थिति नहीं है।

सविकल्प अवस्था में दो स्थितियां बनती हैं—एक चंचलता की और दूसरी वस्तु पर टिक जाने की। अनेक बातों पर टिकना चंचलता है और एक पर टिक जाना, दृढ़ता से टिक जाना चित्त का निरोध है, गहरी एकाग्रता है। चित्त भटकता रहता है, उसको एक आलंबन देकर उस पर टिकाना है। श्वास उसको टिकाने का अच्छा आलंबन बनता है। श्वास पर जब चित्त टिकता है, तब दो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बातें होती हैं। पहली बात है कि मन को बैठने के लिए अच्छा स्थान मिल गया और दूसरी बात है कि जैसे ही मन श्वास पर टिकता है नाड़ी-संस्थान स्थिर होने लग जाता है। चित्त टिका और श्वास की गति मन्द हो गई। श्वास की गति का मन्द होना या दीर्घ होना चित्त का श्वास पर टिकने से संबंधित है। श्वास-संयम से, श्वास की दीर्घता से नाड़ी-संस्थान की चंचलता अपने आप कम हो जाती है। यह एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है, एक उपाय है, मार्ग है। इसके द्वारा चित्त की चंचलता को कम किया जा सकता है।

कबीर के पास एक आदमी आकर बोला—आत्मज्ञान चाहता हूं। कबीर ने कहा—मेरे साथ चलो। वह साथ हो गया। गांव के बाहर पनघट पर गए। वहां एक कुआं था। पनिहारियां पानी के एक-दो घड़े लेकर आ रही हैं, जा रही हैं। कबीर उस व्यक्ति के साथ एक ओर खड़ा हो गया। दो पनिहारियां जा रही थीं। उनके सिर पर दो-दो घड़े पानी से भरे हुए थे। चलती हैं, रुकती हैं और बातें करने लग जाती हैं। फिर चलती हैं और फिर बातें करने के लिए रुक जाती हैं। कबीर ने पूछा—क्या कर रही हो? एक ने कहा—बातें कर रही हैं। कबीर ने कहा—सिर पर दो घड़े लिए हुए हो। क्या घड़े गिर नहीं जाते। एक पनिहारिन बोली—घड़े गिर कैसे जाए? हम बातें कर रही हैं, पर ध्यान घड़े की ओर है, मन घड़े में अटका हुआ है।

कबीर ने जिज्ञासु से कहा—सुना, समझा? तुम जो प्रश्न पूछने आए थे, उसका समाधान समझ गए? वह बोला—कुछ नहीं समझा। कबीर ने कहा—यही आत्मज्ञान है कि बाहर से जीवन की यात्रा चलाओ, पर ध्यान घड़े की ओर टिकाए रखो। एक घड़ा बना लो। चित्त की निर्मलता, आत्मा की पवित्रता, अपने प्रभु का ज्ञान—इनका घड़ा बनाकर सिर पर रख लो, पानी भर लो और बाहर से बातें करते चलते चलो। दोनों काम साथ-साथ चलेंगे तो तुम्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। यह है मेरा आत्मज्ञान।

श्वास प्रेक्षा से इस स्थिति का निर्माण हो सकता है। आदमी काम भी कर रहा है, बात भी कर रहा है, खा-पी भी रहा है, सो भी रहा है पर ध्यान लगा हुआ है श्वास पर। वह निरन्तर श्वास प्रेक्षा में लगा हुआ है तो आत्म-ज्ञान भी चल रहा है और जीवन की यात्रा भी चल रही है। जिस दिन इस स्थिति का निर्माण होगा, उस दिन चित्त की चंचलता का प्रश्न अपने आप समाहित हो जाएगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जीवन विज्ञान

मौसम बदलता रहता है। कभी गर्मी और कभी सर्दी, कभी बसन्त और कभी पतझड़। यह प्रकृति का अटूट नियम है। एक जैसा मौसम कभी नहीं रहता। एक जैसे दिन नहीं रहते, एक जैसी परिस्थिति नहीं रहती।

आदमी शक्तिशाली प्राणी है। वह हर मौसम को सह लेता है। वह सर्दी और गर्मी को सहता है, वर्षा और तूफान को सहता है, बसन्त और पतझड़ को सहता है। जीवित वह होता है जिसमें सहने की शक्ति होती है। जिसमें बदलती हुई परिस्थिति को, बदलती हुई मौसम को सहने की क्षमता नहीं होती, वह जीवित नहीं हो सकता। एक मौसम में जीने वाला मौसमी प्राणी हो सकता है, स्थायी प्राणी नहीं हो सकता। मनुष्य स्थायी प्राणी है, मौसमी प्राणी नहीं है। वह हर मौसम को बर्दाश्त करता है, झेलता है और अपनी जीवनी शक्ति को बनाए रख सकता है। यह सहन करने की शक्ति जिसे प्राप्त है, वही जीता है। यह जीवन का पहला लक्षण है।

सहनशक्ति के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। कोई भी आदमी जैसा है, वैसा रहना नहीं चाहता। वह विकास करना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है। वह परिस्थितियों से जूझते हुए, संघर्षों को झेलते हुए आगे बढ़ना चाहता है। इस उपक्रम से परिस्थितियां बदल जाएंगी। एक परिस्थिति बदलती है तो दूसरी आ जाती है। परिस्थितियों का सर्वथा अनागमन नहीं हो सकता। इस परिस्थिति में भीतरी शक्ति का जागरण संभव है, आवश्यक है।

अमावस्या का दिन। सोमवार। सैकड़ों यात्री नदी में स्नान करने गए। सभी स्नान कर रहे हैं। एक आदमी तट पर बैठा-बैठा कुछ सोच रहा है। कुछ लोग स्नान करके बाहर निकले। एक ने पूछा—'तुम भी तो स्नान करने आए हो। फिर तट पर क्यों बैठे हो? उतरो नदी में और स्नान का आनन्द लो।' वह बोला—'मैं नदी में नहीं उतरूंगा।' उसने पूछा—क्यों? फिर यहां आए ही क्यों? वह बोला—'जब तक लहरें उठ रही हैं, टकरा रही हैं, थपेड़े मार रही हैं तब तक मैं पानी में नहीं उतरूंगा। जब सभी तरंगें शांत हो जाएंगी तब मैं स्नान करने उतरूंगा।'

उस आदमी ने कहा—भले आदमी! पानी में तो लहरें उठती ही रहेंगी, ये कब शांत होने वाली हैं? स्नान करना हो तो पानी में उतर जाओ। ये लहरें तुम्हारे लिए बाधक नहीं बनेंगी। तुम्हारी अकर्मण्यता तुम्हारे लिए बाधा उपस्थित

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कर रही है। पानी में लहरें उठती रहेंगी। कभी शांत नहीं होंगी।

मनुष्य जीवन जी रहा है। वह लहरों के साथ जीवन जी रहा है। परिस्थिति की लहरें और थपेड़ें कभी मिटने वाले नहीं हैं। ये उठते ही रहेंगे। किंतु जिनमें शक्ति है, सहन करने की क्षमता है, वे लहरों के थपेड़ों को चीरकर आगे बढ़ जाएंगे, स्नान कर लेंगे। जो व्यक्ति परिस्थिति के थपेड़ों से डर जाते हैं, घबरा जाते हैं, वे तट पर बैठे रह जाते हैं।

हम शक्ति का विकास करें। विकास का साधन है—शिक्षा। कुछ लोग अशिक्षित होते हैं, उन्हें शिक्षा का मौका नहीं मिलता। वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ लोग विद्यालयों में जाते हैं। उन्हें शिक्षा का अवसर मिलता है और वे शिक्षित हो जाते हैं। शिक्षा का विकास होता है, इसमें कोई संदेह नहीं। शिक्षा एक शक्तिशाली माध्यम है विकास का। प्रश्न होता है, विकास किसका करना है? यदि हम अपने आसपास दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि हमें चार बातों का विकास अवश्य करना चाहिए—

1. शरीरबल का विकास
2. मनोबल का विकास
3. चरित्रबल का विकास
4. बुद्धिबल का विकास

ये चार प्रकार के विकास बहुत आवश्यक हैं। ये चार विकास हो जाते हैं तब आर्थिक विकास और भौतिक विकास की संभावनायें बढ़ जाती हैं। भौतिक विकास और आर्थिक विकास करने के लिए जो शक्ति अपेक्षित होती है, वह इन चार प्रकार के विकासों से प्राप्त होती है। इनमें सबसे पहला है—शरीरबल का विकास। शारीरिक बल के अभाव में आदमी न भौतिक विकास कर सकता है और न आध्यात्मिक विकास कर सकता है।

इसी प्रकार मनोबल का विकास, चरित्रबल का विकास और बुद्धिबल का विकास भी जरूरी है। आज के इस युग में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या भाषा, भूगोल, गणित और तर्क के शिक्षा से ये चारों प्रकार के बलों का विकास हो रहा है? इस पर हमें गहराई से चिंतन करना होगा। आज के विद्यालयों में शरीर बल के विकास के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं। व्यायाम, खेलकूद आदि इसके साधन हैं। इनसे शरीर बल बढ़ता है। क्या आज के विद्यालयों की शिक्षा से मनोबल और चरित्रबल बढ़ता है? इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। भाषा, साहित्य, गणित, फिलासफी आदि के अध्ययन से बुद्धिबल का विकास होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पर इन विधाओं से मनोबल और चरित्रबल बढ़ता है, ऐसा नहीं लगता। आज के लोग कहते हैं—आज विद्यार्थी में चरित्र नहीं है। उसका आचार-व्यवहार अच्छा नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसमें न आत्मानुशासन है और न अध्यापक के अनुशासन में रहने की इच्छा है। विद्यार्थी उच्छृंखल और उद्दंड है। और भी अनेक आरोप हैं विद्यार्थी पर। वे चाहते हैं, विद्यार्थी अच्छा बने, आत्मानुशासी बने, पर प्रश्न है कि क्या इस दिशा में प्रयत्न किया जा रहा है? क्या इसका प्रशिक्षण दिया जा रहा है? उत्तर नकारात्मक होगा। इस स्थिति में यह कैसे आशा की जाए कि विद्यार्थी का मनोबल बढ़ेगा, चरित्रबल बढ़ेगा? जब मनोबल और चरित्रबल बढ़ाने वाली कोई विद्या ही उन्हें नहीं पढ़ाई जा रही है तब उनका विकास कैसे होगा?

बबूल का बीज वपन कर आम पाने की इच्छा करना नितांत अज्ञान है। क्या बबूल का बीज बोने वाला कभी आम खा सकेगा? बबूल का बीज बबूल को ही पैदा करेगा और आम का बीज आम को ही पैदा करेगा। आम से बबूल और बबूल से आम पैदा नहीं हो सकता। नीम का बीज निबौली पैदा करेगा और गुलाब का पौधा गुलाब के फूल को पैदा करेगा। हमें इन सब के लिए अलग-अलग बीज बोने होंगे।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा का प्रयत्न नए बीजों के वपन का प्रयत्न है। यह वह बीज है, जिससे मनोबल और चरित्रबल के फल पैदा होते हैं। आज विद्यार्थी को अपने बारे में ज्ञान करने की कोई विद्या नहीं पढ़ाई जा रही है।

संवेग सब में होते हैं। छोटे बच्चे में भी होते हैं। छोटा बच्चा भी गुस्सा कर लेता है पर गुस्से पर नियंत्रण कैसे किया जाए? वह नहीं जानता। उसके विषय में उसे कोई जानकारी नहीं है। जितने प्रकार के संवेग हैं, ये सब प्राणियों में होते हैं। ये प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्तियां हैं। इन पर नियंत्रण कैसे किया जाए? इनको सीमित कैसे किया जाए? यह हम नहीं जानते। कुछ बच्चों में हीनता की ग्रंथि बन जाती है। जिन्हें साधन-सामग्री उपलब्ध नहीं है, उनमें हीनता की भावना पनपती है और जिन्हें सुविधाएं उपलब्ध हैं, उनमें अहंकार की ग्रंथि बन जाती है। ये दोनों ग्रंथियां मनोबल को क्षीण करती हैं। हीनता की ग्रंथि से भय बढ़ता है, दीनता की वृत्ति जागती है और मनोबल टूट जाता है। अहंकार की ग्रंथि मन को उलझा देती है, तनाव पैदा करती है, मनोबल को क्षीण कर डालती है। ये दोनों तनाव पैदा करने वाली ग्रंथियां हैं। तनाव से समस्याएं उलझती हैं, बच्चे का ठीक विकास नहीं होता, संतुलन नहीं होता। ये समस्याएं हर व्यक्ति के जीवन में पैदा होती हैं। जब तक इन समस्याओं से निपटने की शिक्षा नहीं दी जाती तब तक हम कैसे आशा करें कि उनका व्यवहार संतुलित और मृदु होगा? वे शांत होंगे, आत्मानुशासन से भरे-पूरे होंगे, व्यसन मुक्त होंगे, बुराइयों से बचने वाले होंगे?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा ये सारी बातें पढ़ाई जाती हैं और इनका प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया जाता है। आदतों और भावों को बदलने का प्रायोगिक ज्ञान कराया जाता है, प्रक्रिया बताई जाती है। पढ़ना और प्रयोग करना—ये दो बातें हैं। विज्ञान का विद्यार्थी केवल पढ़ता नहीं, साथ-साथ में प्रयोग सीखता है। जो बात केवल पढ़ी जाती है वह एक बार मन को छूती है, फिर मन से निकल जाती है। वह केवल हमारे स्थूल मन या मस्तिष्क तक पहुंचती है, किन्तु मस्तिष्क की सूक्ष्म परतों तक, अवचेतन मन तक नहीं पहुंच पाती। इस स्थिति में आदत नहीं बदलती।

नैतिकता कोरे ज्ञान से फलित नहीं होती। नैतिकता का विषय पढ़ने मात्र से कुछ नहीं होता। उसके साथ प्रयोग अपेक्षित होते हैं। प्रश्न है आदतों को बदलने का। आदतें इतनी जकड़ी हुई हैं, इतनी बन्धी हुई हैं कि जब तक उनकी गांठ खोली नहीं जाती तब तक आदतों में परिवर्तन नहीं आ सकता।

एक बार मथुरा के लोग भांग पीकर चले नदी को पार करने। उन्हें यमुना नदी पार कर गोकुल पहुंचना था। वे सब नौका में बैठे और नौका को खेने लगे। वे भांग के नशे में चूर थे। खूब तेजी से डांड को खेया। नौका खेते रहे। रात पूरी बीत गई। सोचा—अभी गोकुल नहीं पहुंचे। पौ फट गई। सामने एक शहर दिखाई दिया। वे बोले—अरे! यह तो मथुरा जैसा ही शहर है। हम भटक गए। गोकुल छूट गया। वे तट पर उतरे। एक व्यक्ति से शहर का नाम पूछा। उसने मथुरा बताया। उन्होंने सोचा—अभी तक मथुरा में ही हैं। सारी रात चलते रहे, मथुरा नहीं छूटी, मथुरा में ही रहे। नशा उतरा। उन्होंने देखा—उनकी नौका जिस रस्से से बंधी पड़ी थी, वह रस्सा वैसे ही बंधा हुआ था। रस्सा नहीं खोला। नाव खेते रहे। रात भर श्रम किया। पहुंचे कहीं नहीं। जहा थे, वहीं रहे।

हम कितना ही प्रयत्न करें, जब तक पुराने रस्सों को नहीं खोलते, लंगरों को नहीं हटा लेते, तब तक हमारी नाव आगे बढ़ने वाली नहीं है, पार जाने वाली नहीं है, कहीं पहुंचाने वाली नहीं है।

आदतों को बदलना जटिल कार्य है। हर आदत एक लंगर से बंधी हुई है। एक मजबूत रस्सी से बंधी हुई है। जब तक ये रस्से नहीं काट दिए जाते, तब तक आगे बढ़ने का, आदतों को बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन-विज्ञान के प्रयोग आदतों को बदलने के प्रयोग हैं, भाव परिवर्तन के प्रयोग हैं। जब भाव बदलता है तब आदत बदलती है और जब आदत बदलती है तब आचरण बदलती है और जब आचरण बदलता है तब व्यवहार बदल जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रत्येक विद्यार्थी और शिक्षार्थी में ये दो धारणाएं स्पष्ट होनी चाहिए। पहली धारणा हो—आदमी बदल सकता है। दूसरी धारणा हो विकास के लिए पद्धति अपेक्षित है।

आजकल विज्ञान के क्षेत्र में एक नई अवधारणा पनप रही है। पहले साईकोलोजी का विकास हुआ, फिर पेरासाइकोलोजी का विकास हुआ और उसमें मान लिया गया कि 'एक्स्ट्रा सेन्सरी परसेप्सन (ई. एस. पी), किसी किसी आदमी में होता है। यह साधारण बात नहीं है। यह अपवाद स्वरूप होता है और यह इन्द्रियज्ञान से परे की बात है। आज पेरासाइकोलोजी की इस मान्यता में परिवर्तन आ गया। अब विज्ञान मानता है कि यह ई. एस. पी. सब मनुष्यों में होता है। यह अतीन्द्रियज्ञान सब मनुष्यों में उपलब्ध है। कोई व्यक्ति इस ज्ञान का उपयोग करना जाने या न जाने, इसका विकास करना जाने या न जाने, किन्तु इसका अस्तित्व सबमें होता है।

प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक बालक में अच्छाई की शक्ति भी होती है और बुराई की शक्ति भी होती है। यदि वह प्रयोग के द्वारा अच्छाई के पक्ष को, प्रकाश के पक्ष को विकसित करता है तो प्रकाश से भर जाता है। यदि वह बुराई के पक्ष को, अन्धकार के पक्ष को विकसित करता है तो अन्धकार से भर जाता है। अन्धकार भी तो उसके भीतर है और प्रकाश भी उसके भीतर है। अच्छाई भी उसमें है और बुराई भी उसमें है। प्रश्न है कि किसका स्विच ऑन किया जाए? विद्यार्थी की समझ में यह बात आ जाए, यह धारणा जम जाए कि सब समान है, सब उसका विकास कर सकते हैं तो बहुत बड़ी बात हो सकती है।

दूसरी धारणा यह हो कि विकास के लिए एक उपाय, पद्धति या प्रयोग अपेक्षित होता है। यदि पद्धति मिल जाए और उसका सही उपयोग किया जाए तो प्रत्येक आदत को बदला जा सकता है। मनुष्य के मन में यह धारणा विद्यमान है—आचरण और व्यवहार को बदला नहीं जा सकता। स्वभाव, आचरण और व्यवहार अपरिवर्तनीय है।

भगवान महावीर से कहा—'भंते! आपका निर्वाण हो रहा है और इस निर्वाण के समय भस्मग्रह का योग हो रहा है। यह अनिष्टकारी है। आप अपनी आयु को दो क्षण बढ़ा दें या दो क्षण घटा दें। इस समय को टाल दें तो अनेक समस्याएं समाप्त हो जाएंगी।'

भगवान बोले—ऐसा हो ही नहीं सकता।

सामान्य लोगों ने इस तर्क को पकड़ लिया। हर एक आदमी कहने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लग गया कि मौत इधर-उधर नहीं हो सकती। अरे! महावीर की मौत इधर-उधर नहीं हो सकती, उसका भी पुष्ट कारण है, पर तुम्हारी मौत इधर-उधर हो सकती है। तुम पहले भी मर सकते हो और बाद में भी मर सकते हो।

कुछ व्यक्ति भोजन में असंगत और अनियमित होते हैं। उनके जीवन की सारी चर्या अनियंत्रित होती है। जब कहा जाता है कि भोजन में परहेज करो, जीवन में संयत रहो, कुपथ्य का सेवन मत करो, जीवन घट जाएगा तो वे तत्काल उत्तर देते हैं—महावीर की मौत भी जब क्षण-भर के लिए इधर-उधर नहीं हो सकी तो फिर हमारी मौत अनिश्चित कैसे होगी? चाहे हम कुपथ्य का सेवन करें, बुराई करें, अनियमित रहें तो क्या फर्क पड़ेगा, मौत तो आने वाली होगी तभी आयेगी। कोई अन्तर नहीं आएगा।

महावीर का उत्तर लोगों के लिए रामबाण जैसा बन गया। उनका तर्क अकाट्य हो गया।

बालक यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं—जब माता-पिता का स्वभाव भी नहीं बदलता, बड़े-बड़े व्यक्तियों और शिक्षकों की आदतें नहीं बदलती तो फिर विद्यार्थियों को कैसे बदला जा सकता है? यह तर्क बन गया। वे यह नहीं जानते—माता-पिता, विद्वान तथा वैज्ञानिक नहीं बदले तो वे इसलिए नहीं बदले कि उन्होंने बदलने का उपाय कभी किया ही नहीं। बदलना कभी चाहा ही नहीं। किन्तु आज का विद्यार्थी यदि चाहे कि उसे बदलना है, उसे कुछ बनना है तो वह उपाय के द्वारा बदल सकता है, कुछ बन सकता है।

जीवन-विज्ञान के माध्यम से बदलने के जो प्रयोग कराये जाते हैं—श्वास-प्रयोग, आसन-प्रयोग, प्राण-प्रेक्षा का प्रयोग, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग—वे सारी उसकी आंतरिक शक्ति को जगाने के प्रयोग हैं, संकल्प की शक्ति को विकसित करने के प्रयोग हैं। जब एकाग्रता की शक्ति जागती है, संकल्पशक्ति का विकास होता है और भीतरी रसायनों में परिवर्तन आता है तब स्वभाव परिवर्तन अथवा अन्यान्य परिवर्तनों की बात सरल बन जाती है।

एक माता अपने पुत्र को लेकर एक महात्मा के पास आई। उसने कहा—'महात्माजी! मेरा बच्चा मिठाई बहुत खाता है। चीनी अधिक खाने के कारण वह बीमार रहता है। आप इसे मिठाई खाना छुड़ा दें। ऐसा मंत्र बताएं कि यह मिठाई खाना छोड़ दे। महात्मा ने बात सुनी और मौन रहे। कुछ समय मौन रहने के बाद बोले—'बहिन! अभी चली जाओ, एक सप्ताह के बाद आना। एक मन्त्र बताऊंगा और बच्चा मिठाई खाना छोड़ देगा।'

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बहिन एक सप्ताह बाद आई।

महात्मा ने बच्चे को प्रेम से समझाया। मिठाई खाने के गुण-अवगुण उसे बताए। जीवन का लक्ष्य मिठाई खाने से ऊंचा है, यह बात समझाई। बच्चा समझ गया। उसने कहा—'महात्माजी! आज चीनी नहीं खाऊंगा। मैं आपकी साक्षी से प्रतिज्ञा करता हूं।'

सारी बात पांच मिनट में समाप्त हो गई।

बहिन बोली—'महात्माजी! पांच मिनट की बात थी फिर आपने मुझे एक सप्ताह तक क्यों रोके रखा?'

महात्मा ने कहा—बहिन ! सच यह है—मैं भी मिठाई का पूरा शौकीन हूं। मिठाई बहुत खाता हूं। मैंने सोचा—जब मैं स्वयं मिठाई खाता हूं तो बच्चे को मिठाई छोड़ने के लिए कैसे कह सकता हूं? जब तक मेरी संकल्प-शक्ति प्रबल नहीं होगी तब तक मेरी वाणी का दूसरे पर असर कैसे आएगा? मैंने स्वयं मिठाई न खाने का संकल्प किया। सप्ताह भर प्रयोग किया। आज बच्चे को कहा और वह मान गया। यदि उस दिन इस बच्चे को कहता तो संभव है यह मेरी बात स्वीकार नहीं करता।

संकल्पशक्ति की तेजस्विता या तीव्रता के साथ जो वाणी निकलती है, संकल्प की विद्युत को लेकर जो वाणी निकलती है, वह सामने वाले व्यक्ति के हृदय को छू लेती है। उससे बड़ी से बड़ी आदत भी बदल जाती है। किंतु जब संकल्प कमजोर होता है, शक्तिहीन होता है तब उसके साथ विद्युत नहीं जाती, वाणी लड़खड़ती चलती है, वह दूसरे के हृदय को प्रकंपित नहीं कर पाती, जब संकल्पशक्ति का विकास होता है तब बड़े से बड़ा परिवर्तन घटित हो जाता है।

जीवन-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। सचाइयों को ज्ञात करने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है किंतु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग उससे भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज की भाषा में अनुप्रेक्षा को 'सजेस्टेलॉजी' कहा जा सकता है। अनेक वैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग करते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इसका प्रयोग हो रहा है। सजेशन दो प्रकार से दिया जाता है—व्यक्ति स्वयं सजेशन (सुझाव) देता है या अन्य व्यक्ति के सजेशन सुनता है। दोनों प्रकार प्रचलित हैं। इन सुझावों के द्वारा अकल्पित बातें घटित हो जाती हैं।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। यह 'आटो-सजेशन' स्वयं को स्वयं के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है। एक आदमी यदि प्रतिदिन सप्ताह तक यह सुझाव दे कि 'मैं बीमार हूं मैं बीमार हूं' तो निश्चित ही वह बीमार हो जाएगा। दूसरा व्यक्ति यह सजेशन देता है कि मैं स्वस्थ हूं मैं स्वस्थ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हूं—तो वह स्वास्थ्य का अनुभव करने लग जाएगा। सुझाव की पद्धति को समझकर सुझाव दे, गहराई में जाकर सुझाव दे, बार-बार सुझाव दे तो स्वास्थ्य बढ़ता चला जाएगा।

अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की अचूक पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदत को बदला जा सकता है। आदत चाहे शराब पीने की हो, तम्बाकू सेवन की हो, चोरी की हो, झूठ और कपट की हो, बुरे आचरण और बुरे व्यवहार की हो, अनुप्रेक्षा पद्धति से उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

जीवन-विज्ञान की पद्धति में प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा के प्रयोग कराए जाते हैं। पढ़ाया कुछ भी नहीं जाता। न कोई पुस्तक, न कोई भाषा, न कोई साहित्य, न कोई शोध या समीक्षा, न इतिहास, न गणित, न भूगोल, न विज्ञान—कुछ भी नहीं, केवल प्रयोग और केवल प्रयोग। प्रयोग के साधन—शरीर, वाणी, श्वास और वर्ण (रंग)—ये सब हमारे पास हैं। बस केवल इनका प्रयोग करना है। कहां और कैसे प्रयोग करना है, यह सीखना पड़ता है। हमारे पास सब कुछ है। केवल अपेक्षा है सही संयोजना की। उनका कब, कहां, कैसे संयोजन किया जाए। जो व्यक्ति इनको जान लेता है, वह अपने भीतर की शक्तियों का, बिजली और रसायनों का सही संयोजन कर जीवन की अनेक समस्याओं को हल करना जान लेता है।

जीवन-विज्ञान की यह शिक्षा वर्तमान शिक्षा प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। विद्यालयों की शिक्षा पुस्तकों के आधार पर होने वाली शिक्षा है और जीवन-विज्ञान की शिक्षा जीवन की पोथी के आधार पर होने वाली शिक्षा है। विद्यालयों में भाषा के आधार पर पदार्थनिष्ठ विषय पढ़ाए जाते हैं, और जीवन-विज्ञान की शिक्षा में अपने दर्शन के माध्यम से, प्रेक्षा के माध्यम से जीवन के स्वनिष्ठ विषय पढ़ाए जाते हैं। वस्तुनिष्ठ शिक्षा में अनेक विद्याएं पढ़ाई जाती हैं, पर स्व का कोई पता नहीं चलता। आज की शिक्षा या विज्ञान की सबसे बड़ी समस्या यही है कि इसमें वस्तु के विषय में बहुत बताया जाता है, पर अपने विषय में कुछ भी नहीं बताया जाता। जब केवल पदार्थ के विषय का ज्ञान होता है और अपने विषय का ज्ञान नहीं होता, तब विचित्र समस्याएं उभर आती हैं।

एक धनाढ्य सेठ के घर में अचानक आग लग गई। वह तेजी से फैलने लगी। पास-पड़ौस के लोग घर के समान को निकालने लगे। सेठ सामान निकालने का निर्देश देता जा रहा था और लोग, नौकर-चाकर सामान बाहर निकाल रहे थे। घर की मूल्यवान चीजें अग्नि में स्वाहा होने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

से बचा ली गई। सेठ इस बात से प्रसन्न हुआ—मकान जला तो जला पर सारी मूल्यवान वस्तुएं सुरक्षित बाहर निकाल ली गई।

सेठनी बाजार गई हुई थी। आग की बात सुनकर वह दौड़ी-दौड़ी आई। सेठ ने कहा—घबराओ मत। सारी कीमती चीजें, आभूषण और कपड़े सुरक्षित निकाल लिए गए हैं। सेठनी बोली—मेरा छोटा बच्चा अंदर सो रहा था, वह कहां है? उसे निकाला या नहीं? सेठ ने कहा—अरे! गजब हो गया। उसका तो ख्याल ही नहीं रहा। उसने नौकरों से कहा। पर अब आग सारे घर में फैल चुकी थी। उसमें प्रवेश करने का साहस किसी में नहीं था। बच्चा जलकर भस्म हो चुका था। सेठ ने सारी मूल्यवान वस्तुएं निकलवा लीं, पर उन वस्तुओं का उपभोक्ता आग में जलकर राख हो गया। भोक्ता जल गया और भोग्य वस्तुएं बाहर आ गई।

आज के शिक्षा जगत की भी यही स्थिति है। भोक्ता के विषय में या स्वामी के विषय में कोई जानकारी नहीं और पदार्थ के विषय में सूक्ष्मतम जानकारी दी जा रही है। परमाणु विस्फोट का पूरा विज्ञान पढ़ाया जाता है। उसकी निष्पत्तियों की शिक्षा दी जाती है, पर मनोबल को विकसित करने या चरित्र विकास की बात नहीं सिखाई जाती।

आज केवल वस्तुनिष्ठ शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ स्वनिष्ठ शिक्षा भी अपेक्षित है। केवल पदार्थ का विज्ञान ही नहीं, किंतु पदार्थ विज्ञान का जो ज्ञाता, द्रष्टा और स्वामी है, उसकी भी शिक्षा होनी चाहिए। जीवन-विज्ञान की यह पद्धति पूरक पद्धति है। वस्तुनिष्ठ शिक्षा के साथ-साथ स्वनिष्ठ शिक्षा का उपक्रम है। दोनों प्रकार की शिक्षाओं का योग अर्थात भाषा और गणित की शिक्षा के साथ जीवन विज्ञान की शिक्षा या योग अपेक्षित है, जिसकी निष्पत्ति होगी—बौद्धिक और शारीरिक बल के विकास के साथ-साथ मनोबल और चरित्रबल का विकास।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनेक रोग : अनेक चिकित्सा

प्रश्न होना स्वाभाविक है कि प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में एक ही प्रयोग क्यों न कराया जाए? श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा आदि विभिन्न प्रयोग क्यों कराए जाते हैं? प्रश्न सहज उठता है, पर क्या करें प्रकृति का नियम ही ऐसा है कि बीमारी एक नहीं है, बीमारियां अनेक हैं। जब बीमारियां अनेक हैं तो उनकी चिकित्सा की विधियां भी अनेक होंगी, औषधियां भी अनेक होंगी।

प्राकृतिक चिकित्सा में माना जाता है कि बीमारी एक ही है। विजातीय तत्त्व का बढ़ना ही बीमारी है। यदि पेट साफ हो, विजातीय तत्त्व एकत्रित न हो तो कोई बीमारी नहीं हो सकती। कुछ अंशों में यह बात ठीक है पर कोई भी बात पूरी ठीक नहीं हो सकती। हर बात अपूर्ण होती है। अनेकता है तो अनेकता से ही प्रयत्न करना होगा। दुनिया में ऐसा एक भी तत्त्व नहीं है जो सब प्रकार से काम दे सके। एक सूंठ के गांठिये से पंसारी बनने की बात समझदारी नहीं मानी जा सकती। जहां अनेक रोग हैं, अनेक परिस्थितियां और अनेक कारण हैं, वहां अनेक उपाय भी आवश्यक होंगे।

प्रेक्षाध्यान की पद्धति में अनेक उपाय काम में लिए जाते हैं। उन अनेक उपायों में भी एक आधारभूत उपाय है प्रेक्षा। जैसे-जैसे देखने का विकास होता है, अनुभव का विकास होता है, वैसे-वैसे बीमारियां कटती चली जाती हैं। किन्तु कठिनाई एक है कि सभी आदमी समान नहीं होते। सबकी क्षमता एक रूप नहीं होती। कुछ लोग स्थूल बुद्धि वाले, स्थूल प्रकृति वाले होते हैं और कुछ लोग सूक्ष्म बुद्धि वाले, गहराई में जाने वाले होते हैं। कुछ लोगों को देखने वाली बात समझ में ही नहीं आती। बड़ा प्रश्न होता है कि देखें क्या? आंखें बन्द हैं, फिर क्या देखें, कैसे देखें? श्वास और शरीर को क्या देखा जाए? देखने की बात समझ में आ जाए, यह बहुत कठिन बात है। अनेक प्रयोग हैं। जो साधक प्रेक्षा करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, वे कायोत्सर्ग की ओर मुड़ें। कायोत्सर्ग में देखना कुछ भी नहीं होता, केवल शरीर को ढीला करना होता है। उसे तनावमुक्त करना होता है। यह कार्य सरल है पर कुछ लोग यह सरल कार्य भी नहीं कर पाते। जब वे कायोत्सर्ग करते हैं, तब उनकी अकड़न अधिक बढ़ जाती है। वे तनाव से भर जाते हैं। उनके लिए शिथिलीकरण तनाव का हेतु बन जाता है। जो कायोत्सर्ग भी न कर सकें, वे निराश न हों। वे कम से कम

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनुप्रेक्षा करें। अनुप्रेक्षा में बोलना है, शब्दों का उच्चारण करना है। यह कायोत्सर्ग से भी सरल है। यह किया जा सकता है।

इस प्रकार अनेक प्रयोग हैं—प्रेक्षा, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा। इस अभ्यास-काल में और-और भी प्रयोग चलते हैं। ये अनेक प्रकार के प्रयोग इसलिए चलते हैं कि बीमारियां अनेक हैं। किसी व्यक्ति में चंचलता अधिक होती है और किसी में वृत्तियों का उभार अधिक होता है। किसी में आहार की वृत्ति अत्यधिक उभर आती है और किसी में भय की वृत्ति उभर आती है। किसी में कामवासना की वृत्ति का प्रकोप होता है और किसी में लोभ की संज्ञा प्रबल होती है। ये सारी संज्ञाएं और वासनाएं विभिन्न प्रकार के क्षोभ पैदा करती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह शांत रहे। योग का शब्द है—प्रशांतवाहिता। आदमी निरन्तर प्रशांति के प्रवाह में बहना चाहता है। किंतु वह शांत नही रह पाता। उसकी शांति को भंग करने वाली तरंगें उठती हैं और शांत समुद्र क्षुब्ध हो जाता है। ये संज्ञाएं और वासनाओं की तरंगें शांति को भंग कर देती हैं। जब कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की तरंगें उभरती हैं तब भी शांति भंग हो जाती है।

मन की शांति, प्रशांतवाहिता—यह तेजोलेश्या का कार्य है। जब तेजोलेश्या के प्रकंपन प्रगट होते हैं तब आदमी शांत, प्रशांत और उपशांत हो जाता है। उस स्थिति में प्रशांतवाहिता निरन्तर बनी रहती है। उसकी विच्छित्ति नहीं होती। परन्तु अप्रशस्त तीन लेश्याएं—कृष्ण, नील और कापोत—जब उठती हैं तब प्रशांतवाहिता भंग हो जाती है, शांत जल क्षुब्ध हो जाता है। इसमें कोई अपवाद नहीं होता। चाहे व्यक्ति हो, समाज हो या राष्ट्र हो, शांति का भंग होता है इन अप्रशस्त तरंगों के द्वारा। उस स्थिति में शांति विक्षुब्ध हो जाती है।

कौशाम्बी का राजा शतानीक बहुत शक्तिशाली राजा था। उसके मन में चित्रशाला बनाने का संकल्प उठा। उसने कुशल चित्रकारों को आमंत्रित किया। एक कुशल, सक्षम और प्रशिक्षित चित्रकार ने चित्रशाला का दायित्व अपने पर लिया। बुद्धि-कौशल, हस्त-कौशल और कल्पना-कौशल को नियोजित कर उसने कुछ ही समय में चित्रशाला का निर्माण पूरा कर डाला। राजा उसे देखने आया। चित्रशाला की भव्यता और सुन्दरता को देख वह आश्चर्य चकित रह गया। उसने चित्रशाला के सभी कक्षों में जाकर चित्र देखे। कक्ष मनोमुग्धकारी थे। वह मध्य कक्ष में गया। द्वार के सामने पटरानी मृगावती का चित्रांकन था। उस चित्र को सूक्ष्मता से देखा। मृगावती की बायीं जंघा पर एक तिल का चिह्न अंकित है। यह देखते ही राजा का रोष बढ़ा। उसने सोचा, चित्रकार को कैसे ज्ञात हुआ कि रानी के बायीं जांघ पर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तिल है? यह चित्रांकन स्वयं उसके चरित्र पर एक प्रश्नचिह्न उपस्थित करता है। राजा अनेक संकल्प-विकल्पों में उलझा और क्रोध भी बढ़ता गया। उसने चित्रकार को एकांत में बुलाकर पूछा—सच-सच बताओ, तुमने यह यथार्थ चित्रांकन कैसे कर डाला? तुमने महारानी का यह तिल कब-कैसे देखा था?

चित्रकार ने राजा की भावना समझ ली। उसने कहा—महाराज! क्षमा करें। मेरे पास ऐसी विद्या है कि किसी के शरीर का एक अंश देखकर मैं पूरे शरीर का यथार्थ चित्रांकन कर सकता हूं। एक बार मैंने महारानी के पैर के अंगूठे को देखा था। उसी अंगूठे के आधार पर मैंने यह पूरा चित्र बनाया है।

राजा ने इस बात पर विश्वास नहीं किया। रानी पर उसका अविश्वास बढ़ता गया। साथ ही साथ चित्रकार की शील पर उसे पूरा संदेह हो गया।

चित्रकार ने कहा—राजन! यदि आप मेरे कथन पर विश्वास नहीं करते हैं तो मैं तत्काल परीक्षा देने के लिए तैयार हूं।

राजा ने इस प्रस्ताव की स्वीकृति दे दी। एक दासी को चार परदों के पीछे खड़ा कर दिया। उसके पैर का अंगूठा मात्र दीख रहा था। चित्रकार ने देखा। तत्काल उसने तूलिका से रेखांकन किया। रंग भरे और चित्र तैयार हो गया। राजा ने देखा, यह चित्र हूबहू उसी दासी का है और इसमें सूक्ष्मतम रेखाएं अंकित हैं। परन्तु राजा का कोप शांत नहीं हुआ। उसने आवेश में आकर चित्रकार का अंगूठा कटवा दिया।

चित्रकार का मन प्रतिशोध से भर गया। राजा के अन्याय को वह सह नहीं सका। उसने मृगावती रानी का एक सुन्दरतम चित्र बनाया और उसे उज्जैनी के सम्राट चण्डप्रद्योत के पास ले गया। चण्डप्रद्योत कामुक राजा था। उसने मृगावती का चित्र देखा, मुग्ध हो गया और शतानीक की राजधानी पर आक्रमण कर डाला। चण्डप्रद्योत अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसका सैन्य बल विपुल था। शतानीक आक्रमण की बात सुन अतिसार के रोग से ग्रस्त होकर मर गया। भय से मृत्यु हो गई।

अब हम इस घटना का निष्कर्ष निकालें। राजा की मृत्यु का कारण बना? शांति भंग क्यों हुई? राजा ने आक्रमण क्यों किया? चंडप्रद्योत के मन में एक तरंग उठी, चित्र उसका निमित्त बना और उसने युद्ध छेड़ दिया, शांति भंग हो गई। चित्र को देखकर सबसे पहले राजा चंडप्रद्योत की शांति भंग हुई। उसकी कामवासना उभरी और वह चंचल हो उठा। एक व्यक्ति की ही शांति भंग नहीं हुई, पूरे राज्य की शांति भंग हो गई, कौशांबी का राजा मृत्यु को प्राप्त हुआ और कौशांबी अनाथ बन गई।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हम अपने जीवन का पूरा विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि प्रशांतवाहिता नहीं टिक पाती। उसमें बार-बार विघ्न आते हैं। अनेक प्रकार की तरंगें उठती हैं और उसमें क्षोभ पैदा कर डालती हैं। तरंगें उठती रहती हैं और आदमी उलझता रहता है। हमारी शांति का अस्तित्व दो तरंगों के बीच में है। इधर तरंग है, उधर तरंग है और बीच में शांति है। दोनों ओर के थपेड़ों से बेचारी शांति क्षुब्ध हो जाती है।

ध्यान करने वाले इस सचाई को समझ कर चलें कि ध्यान एक साथ नहीं हो सकता। मन एक साथ नहीं टिकता। प्रारंभ में मन भटकता है, फिर अभ्यास की परिपक्वता के साथ-साथ वह नियंत्रित होता जाता है। इसमें तीन बातें अपेक्षित होती हैं—धैर्य, दीर्घकालिता और सतत अभ्यास। जब ये तीनों तथ्य समन्वित होते हैं तब ध्यान फलित होता है। इस स्थिति में आदमी एक घंटा निर्विकल्प रह सकता है। यह आगे की स्थिति है। प्रारम्भ में ऐसा नहीं होता। हमें इस सचाई का यथार्थ अनुभव करना चाहिए कि प्रारम्भ में ध्यानकाल में चंचलता आएगी, संकल्प-विकल्प आएंगे, उन सबको सहना है, देखना है, अनुभव करना है पर ध्यान को नहीं छोड़ना है। जो लोग इस यथार्थता को जान लेते हैं, वे सब कुछ सहकर धीरे-धीरे आगे बढ़ जाते हैं। जो इस यथार्थ को नहीं जानते, वे घबड़ा जाते हैं और ध्यान को बीच में ही छोड़ देते हैं।

एक व्यक्ति तैरना सीखना चाहता था। वह तालाब पर गया। वह नया-नया था। उसका पैर फिसला और तालाब में डूबने लगा। एक व्यक्ति ने उसे खींचकर बाहर निकाल दिया। कुछ क्षणों बाद कहा, उतरो, पानी में तैरो। वह बोला, नहीं उतरूंगा। जब तक तैरना नहीं सीख लूंगा तब तक पानी में पैर नहीं रखूंगा।

यह कैसे संभव होगा? क्या वह घर पर बैठा-बैठा तैरना सीख जाएगा? पानी में फिसलते, डूबते, तैरते ही तो तैरना सीखा जाता है। जो व्यक्ति इनसे घबड़ा जाता है, वह कभी तैरना नहीं सीख सकता।

जो व्यक्ति ध्यान में आने वाली बाधाओं और विघ्नों को सहते-सहते अभ्यास चालू रखता है, वह ध्यान की स्थिति में विकास कर लेता है। जो उन बाधाओं से घबड़ा जाता है, वह कभी ध्यान का अभ्यास सिद्ध नहीं कर सकता।

प्रशांतवाहिता और मन की शांति को निरन्तर बनाए रखने के लिए पहली आवश्यकता है—लक्ष्य का निर्माण, उद्देश्य की स्पष्टता। ध्यान का उद्देश्य है—चित्त की निर्मलता, चित्त की शांति। जैसे-जैसे चित्त की निर्मलता बढ़ती है वैसे-वैसे चित्त की शांति भी बढ़ती है। ध्यान के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य को फलित करना, मुख्य बात नहीं है, गौण बात है। खेती का मुख्य लक्ष्य है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अनाज पैदा करना। घास-फूस पैदा करना खेती का लक्ष्य नहीं हो सकता। वह प्रासंगिक फल है। ध्यान से शरीर स्वस्थ होता है, बीमारियां मिटती हैं, सौन्दर्य बढ़ता है, यह उसकी मुख्य फलश्रुति नहीं है। उसकी मुख्य फलश्रुति है—चित्त की निर्मलता, चित्त की शांति।

हमारे भीतर अनेक प्रकार की मलिनताएं हैं। मलिनता से आदमी का चिन्तन मलिन होता है, निर्णय मलिन होता है। जब निर्मलता बढ़ती है तब मति, स्मृति, चिंतन, कल्पना, निर्णय—सारे निर्मल और पवित्र बन जाते हैं। जिस व्यक्ति का मन मलिन होता है, उसका चिंतन, मनन सभी मलिन हो जाते हैं। निर्मल चित्त वाला व्यक्ति हर बात को पवित्रता के दर्पण में देखता है।

महाराष्ट्र के दो संत बहुत अधिक प्रसिद्ध हुए हैं—तुकाराम और एकनाथ। एकनाथ की पत्नी बहुत सरल, विनम्र और अनुकूल थी। तुकाराम की पत्नी अत्यन्त क्रोधित, अविनीत और प्रतिकूल थी। दोनों की दिशाएं अत्यंत भिन्न थीं। किन्तु दोनों साधक—एकनाथ और तुकाराम बहुत जागरूक थे। एकनाथ ने आसक्ति भाव नहीं बढ़ने दिया और तुकाराम ने द्वेष को उभरने नहीं दिया। एकनाथ निरन्तर सोचते रहते—देखो, मेरे पर प्रभु की कितनी बड़ी कृपा है। मुझे कितनी विनीत और अनुकूल पत्नी मिली है। मुझे सत्संग के लिए कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं होती। घर में ही सत्संग हो जाता है। तुकाराम सोचते—प्रभु की कितनी कृपा है! मुझे ऐसी पत्नी का योग मिला है कि मेरा घर मोह ही नहीं बढ़ता। अन्यथा यह बहुत संभव था कि मैं घर-गृहस्थी में फंस जाता, घर की आसक्ति बढ़ जाती और मैं प्रभु को भुला देता। किन्तु आसक्ति और मूर्च्छा को बढ़ने का यहां अवसर ही नहीं मिलता।

ऐसा चिंतन निर्मल चित्त वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं। वे हर घटना को निर्मल और क्षम्य बना डालते हैं। वे प्रत्येक घटना से सार ग्रहण कर लेते हैं।

हमारा उद्देश्य है—चित्त की निर्मलता का सम्पादन। प्रतिक्षण राग-द्वेष का मल जमता रहता है। एक भी दिन या क्षण खाली नहीं जाता, जिसमें यह मल नहीं जमता हो। हमारा प्रत्येक चिंतन या प्रवृत्ति रागद्वेष से संचालित होती है। राग-द्वेष से मुक्त प्रवृत्ति या चिंतन होता ही नहीं, ऐसा कहना अतिश्योक्ति नहीं है। हमारे दो आंखें हैं। इनसे से एक को हम प्रियता की अनुभूति करने वाली आंख और दूसरी को अप्रियता की अनुभूति करने वाली आंख कह सकते हैं। हम बाह्यरूप से आंखें बंद कर लें, फिर भी भीतर की ये दोनों आंखें सदा खुली रहती हैं। एक ओर मैल जमने का, मूर्च्छा के सघन होने का चक्र चल

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

रहा है और दूसरी ओर हमारा कोई सलक्ष्य प्रयत्न नहीं है उस मैल को धोने का, उस मूर्च्छा को तोड़ने का। शांति कैसे संभव हो सकती है? प्रशांतवाहिता कैसे प्राप्त हो सकती है?

आज अनेक व्यक्ति यह शिकायत करते हैं—मानसिक तनाव बढ़ रहा है, रक्तचाप संतुलित नहीं है, हार्टट्रबल बढ़ रही है, मस्तिष्क चिंताओं के भार से दबा रहता है आदि-आदि। ये सारी शिकायतें सर्व-सामान्य बन गई हैं। इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार का जीवन-क्रम चल रहा है, उसमें इन शिकायतों का होना अनिवार्य है। ये दोष उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, पर इनका शोधन करने का प्रयत्न नहीं होता। इसलिए ये शिकायतें मिटती नहीं, बनी की बनी रहती हैं।

कोई व्यक्ति प्रेक्षा-ध्यान के प्रयोग को बहुत बड़ा साधना का प्रयोग न भी माने, पर यह वर्तमान जीवन के लिए जीवनी है, बहुत उपयोगी है। जीवन की यह सामान्य प्रक्रिया है कि आदमी स्नान कर शरीर पर जमे मैल को उतार देता है। इसी प्रकार चेतना पर, मन पर, प्रतिदिन जमने वाले मैल को साफ करना भी आवश्यक होता है। यदि प्रतिदिन यह शुद्धि कर दी जाती है तो फिर मैल जमता नहीं, गाढ़ा नहीं होता, सरल प्रयत्न से दूर हो जाता है। जब मैल अधिक जम जाता है, गाढ़ा और चिकना हो जाता है तब उसको दूर करने में बहुत आयास करना पड़ता है। यदि हम प्रतिदिन प्रयोग करें और दिन भर में मैलों को नष्ट करते रहें तो हमारी शुद्धि बनी रह सकती है।

प्रश्न हो सकता है—प्रयत्न कब तक करते रहेंगे? उत्तर होगा—प्रयत्न तब तक करने होंगे जब तक मैल जमते रहेंगे। किसी ने पूछा—दीया कब तक जलाओगे? उत्तर दिया गया—जब तक अंधेरा रहेगा, तब तक दीये जलते रहेंगे। आदमी यह प्रश्न कभी नहीं करता कि रोज खाते हैं, पीते हैं, क्या आवश्यकता है? भूख रोज लगती है इसलिए आदमी रोज खाता है। प्यास रोज लगती है इसलिए आदमी रोज पानी पीता है। जीवन के लिए अनेक बातें जरूरी लगती हैं, पर यह जरूरी क्यों नहीं लगता कि चेतना पर ईर्ष्या, घृणा, ममत्व, क्रोध, अभिमान, कामवासना आदि का मैल रोज जमता है तो रोज उसका परिमार्जन कर दिया जाए। मकान को रोज साफ किया जाता है। मन को रोज साफ क्यों नहीं किया जाता? क्या केवल मकान में ही आंधी और तूफान आते हैं? क्या चित्त में आंधी और तूफान नहीं आते? कोई यह सोचे कि मकान को रोज साफ क्यों करें? क्यों रोज कचरा निकालें? चार महीनों में एक दिन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साफ कर लेंगे, तो उस मकान की क्या हालत होगी? वह कभी साफ होगा ही नहीं या होगा भी तो बहुत प्रयत्न के बाद।

मल का अर्जन रोज होता है तो उसका विसर्जन भी रोज होना चाहिए। रोज जमे, रोज उतरे—यह विशुद्धि की प्रक्रिया है।

ध्यान की प्रक्रिया कोई अतिरिक्त प्रक्रिया नहीं है। यह कोई विशेष साधना का उपक्रम नहीं है, यह कोई हिमालय की कन्दरा में बैठकर ध्यान करने जैसी साधना का उपक्रम नहीं है, यह कोई अनोखा अनुष्ठान नहीं है कि हम छह महीने तक इस आसन से उठेंगे ही नहीं या छह महीने तक खड़े ही रहेंगे। यह तो जीवन की सर्वमान्य प्रक्रिया है कि रोज जो मैल जमता है उसको रोज साफ कर दो। एक दिन का विलम्ब मत करो। मैल आज आया, आज ही उसे हटा दो। अन्यथा जमते-जमते वह मैल चेतना पर इतना अधिकार कर लेता है कि उससे विलग नहीं हो पाता।

ध्यान की यह सर्वमान्य प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए जरूरी है। यह नहीं है कि मन में अध्यात्म की विशेष प्रेरणा जागे और वह ध्यान करे, यह आवश्यक नहीं है। एक बार साध्वियों की गोष्ठी में मैंने पूछा—क्या ध्यान करना आवश्यक है? किसी साध्वी ने कहा—आवश्यक है। किसी ने कहा—इतना क्या आवश्यक है? किसी ने कहा—ध्यान के प्रति रुचि नहीं है। किसी ने कुछ कहा और किसी ने कुछ कहा। प्रश्न एक था, उत्तर अनेक थे। मैंने पूछा—साधु जीवन के लिए पांच महाव्रतों को पालना आवश्यक है या नहीं? उत्तर मिला—अत्यन्त आवश्यक है। मैंने पूछा—क्या तीन गुप्तियों की साधना अनिवार्य नहीं है? सबने एक ही उत्तर दिया—अत्यन्त अनिवार्य है गुप्तियों की साधना। मैंने कहा—गुप्तियों के बिना महाव्रतों की आराधना नहीं हो सकती। पांच महाव्रत पालने अनिवार्य हैं तो गुप्तियों की साधना भी अनिवार्य है। जब गुप्तियां सम्यक नहीं होतीं, तब न मन पर अनुशासन सधता है, न वाणी और शरीर का अनुशासन सधता है। तीनों गुप्तियां नहीं हैं तो अहिंसा का विकास कैसे संभव होगा? मन पर अनुशासन हुए बिना सत्य का महाव्रत कैसे पाला जाएगा? साधक ने गलती कर दी। किसी ने पूछा—तुमने गलती की? यदि मन गुप्ति और वचनगुप्ति सधी हुई नहीं है तो साधक कहेगा—मैंने कोई गलती नहीं की। झूठ बोलने में संकोच नहीं होगा। झूठ बोलने में संकोच तब होता है जब मनगुप्ति और वचनगुप्ति सधी हुई होती है। यह कभी संभव ही नहीं है कि तीन गुप्तियों की साधना के बिना पांच महाव्रतों की साधना सम्यक हो सके।

मैंने कहा—गुप्ति की साधना उतनी ही अनिवार्य है जितनी पांच

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महाव्रतों की साधना अनिवार्य है तो प्रेक्षाध्यान क्या है? क्या प्रेक्षाध्यान गुप्तियों की साधना के अतिरिक्त है? मनोवृत्ति, वाक्गुप्ति और कायगुप्ति की साधना के लिए है प्रेक्षाध्यान। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास इसलिए है कि हम उसके माध्यम से मन, वचन और काया को संवृत कर सकें, गुप्त कर सकें। संवृत करने की प्रक्रिया का अभ्यास अपेक्षित होता है। गुप्तियों की साधना का व्रत होने मात्र से साधना नहीं हो पाती। उसके लिए निश्चित प्रक्रिया से गुजरना होता है, अभ्यास करना होता है। यदि हमें मन को वश में करना है तो उनके सहयोगियों को भी वश में करना होगा। पहले ही मूल पर हाथ डालने से निराश होना पड़ता है। सबसे पहले हम श्वास को पकड़ें । यह मन का परम सहयोगी है। जब श्वास पकड़ में आ जाएगा तो मन पकड़ में आ जाएगा। श्वासप्रेक्षा, दीर्घश्वासप्रेक्षा, समवृत्तिश्वासप्रेक्षा—ये सारे प्रयोग श्वास को वश में करने के प्रयोग हैं, इनसे श्वास पर ही नियंत्रण नहीं होता, मनोगुप्ति भी सधती है। मनोगुप्ति के लिए श्वास-संयम आवश्यक है। मेरा अनुभव यह है कि बिना श्वास को समझे कोई सीधा ध्यान में जाए तो वह सफल नहीं हो सकता। बिना श्वास को पकड़े मन की एकागता नहीं सधती और बिना मन की एकाग्रता के कैसा ध्यान?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यान का अर्थ है—चित्त को शान्त और एकाग्र करना, किन्तु इतनी छोटी बात को साधने के लिए लेश्याध्यान, चैतन्य केन्द्रप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, अन्तर्यात्रा, अनुप्रेक्षा, श्वासप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा, अनित्य अनुप्रेक्षा, संकल्प-शक्ति का निर्माण आदि-आदि प्रयोग करने पड़ते हैं, तब कहीं ध्यान सधता है। मक्खन पाने के लिए कितना कुछ करना पड़ता है। पाना है केवल थोड़ा-सा मक्खन, पर उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया बहुत लम्बी है। गाय-भैंस को पालना, दुहना, दूध को गर्म करना, जमाना, दही बनाना और फिर बिलौना करना। इतना करने पर ही मक्खन मिलता है। इतनी प्रक्रिया के बिना मक्खन नहीं मिलता। ऐसा नहीं होता कि आकाश में हाथ फैलाया और मक्खन मिल गया।

कुछ लोग कहते हैं—ध्यान तो अप्रयत्न है। उसमें तो प्रयत्न को छोड़ना सिखाया जाता है। फिर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न क्यों किया जाए? ऐसा कहना सरल है। प्रयत्न तो करना ही पड़ता है। 'छाछ उद्दा सब करे, इक मक्खन के काज'—यह उक्ति ध्यान पर लागू होती है। पानी में से कभी मक्खन नहीं मिलता। उचित उपादान हो और उचित प्रयत्न हो, तब ही मक्खन निकलता है। ध्यान की सिद्धि भी प्रयत्न सापेक्ष होती है। अन्यथा कौन इतने झंझट करता?

जो उपाय निर्दिष्ट किए हैं, उनके आलम्बन से नवनीत अवश्य प्राप्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

होता है। प्रेक्षाध्यान करने वाले साधकों में यह निश्चय और विश्वास होना चाहिए कि वे अपने प्रयत्न में सफल होंगे और उन्हें जो पाना है वह अवश्य मिलेगा। हम इस तथ्य को समझें—बीमारियां जब अनेक हैं तो दवाइयां भी अनेक होंगी। इसी प्रकार अनेक प्रकार के मानसिक तनावों के लिए अनेक प्रयोग होंगे। अनेक प्रकार की क्षमता है और अनेक प्रकार की क्षमता के लिए अनेक प्रयोग होंगे। यह पूरा चित्र जब हमारे सामने होगा तब ध्यान करने वाला कभी उलझेगा नहीं। वह प्रत्येक को पकड़ कर अपने गन्तव्य तक पहुंच जाएगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बिम्ब : प्रतिबिम्ब

जहां कुछ चिन्तक एकत्रित होते हैं, वहां चिंतन और परामर्श चलता ही रहता है। अनके प्रश्न उठते हैं और अनेक समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं। चिंतन के संदर्भ में एक प्रश्न आया कि सबसे सरल क्या है? बहुत सीधा और सरल प्रश्न था। पर चिंतन जब चलता है तब टेढ़ी बात सीधी बन जाती है और सीधी बात टेढ़ी बन जाती है। सबसे सरल क्या है? यह प्रश्न भी चर्चित होते-होते जटिल बन गया। अनेक उत्तर आए। एक उत्तर मन को भा गया। एक व्यक्ति ने कहा—सबसे सरल है—दूसरे के दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखना।

इससे जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न था—सबसे कठिन क्या है? इसका उत्तर था—अपने दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखना।

प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिए इन दोनों सूत्रों को समझना बहुत उपयोगी है। यदि हम थोड़ी मीमांसा करें तो पता चलेगा कि बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख सकें। वे देखते ही नहीं। सदा दूसरे का दर्पण सामने रहता है। दो व्यक्ति भोजन करने बैठे। दोनों को भोजन परोसा गया। एक ने खा लिया। दूसरा खाते-खाते सोचता है—इसने खा लिया, मैं अभी तक नहीं खा पाया। इसने अधिक खा लिया, मैंने थोड़ा खाया है। यह पचा सकता है, मैं नहीं पचा सकता। तत्काल दूसरे का दर्पण सामने आ जाता है। मुझे कितना खाना चाहिए, यह बात गौण हो जाती है, और दूसरा कितना खाता है, यह बात मुख्य बन जाती है। समाज के सारे व्यवहारों को देखें तो पता चलेगा—कोई भी आदमी इस कसौटी को सामने नहीं रखता कि मुझे क्या करना चाहिए, कब करना चाहिए, कितना करना चाहिए? वह सदा इस बात को ध्यान में रखता है कि पड़ोसी क्या करता है? कैसे करता है? कितना करता है? प्रत्येक व्यक्ति इसी के आधार मानकर कार्य करता है। इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति के पास अपना कोई पेरामीटर नहीं है। उसका मानदंड बनता है दूसरा व्यक्ति।

सिकन्दर के सामने एक डाकू को उपस्थित किया गया। सिकन्दर ने पूछा—तुझे क्या दंड मिलना चाहिए? उसने कहा—दंड कुछ भी हो, मृत्युदंड नहीं मिलना चाहिए। सिकन्दर ने पूछा—इतना अन्याय और अनर्थ किया है तुमने, फिर मृत्युदंड क्यों नहीं मिलना चाहिए? वह बोला—मुझे यदि मृत्युदंड दिया जाएगा तो फिर आपको कौनसा दंड दिया जाएगा? क्योंकि मैं तो छेत्र डकैत हूं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

छोटी-छोटी डकैतियां डालता हूं। आप तो महान डकैत हैं, अनेक देशों को बरबाद करने वाले हैं, लूटने वाले हैं। मुझे यदि मृत्युदंड मिलेगा तो फिर आपको क्या मिलेगा? इसलिए मैं सोचता हूं कि मुझे मृत्युदंड नहीं मिलना चाहिए।

व्यक्ति सदा दूसरे को सामने रखता है। दूसरा सामने आता है और व्यक्ति अपनी स्थिति को भूल जाता है। डाकू ने यह अनुभव नहीं किया कि वह डाकू है डाका डालता है, लोगों को त्रस्त करता है, मारता है किन्तु उसने अपने सारे अपराध सिकन्दर पर डाल दिए। दूसरों को देखने की यह मनोवृत्ति मनुष्य को खतरे से बाहर नहीं ले जाती। वह उसे खतरे की परिधि में रखती है, खतरे के आसपास चक्कर कटवाती है।

जब तक मनुष्य में एक प्रकार की चेतना नहीं जाग जाती तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। वह चेतना है—प्रेक्षा की चेतना। यह द्रष्टा की चेतना है। प्रेक्षा शब्द के दो घटक हैं—प्र+ईक्षा। ईक्षा का अर्थ है—देखना। 'प्र' जुड़ा और वह प्रेक्षा बन गया। इसका अर्थ बदल गया। प्रेक्षा का अर्थ है—केवल देखना। देखना और केवल देखना—बहुत अन्तर है।

एक बिल्ली ने चूहे को देखा, वह देखना तो है पर केवल देखना नहीं है। एक शिकारी ने शिकार को देखा, वह देखना तो है पर केवल देखना नहीं है। कामुक आंखों ने सौंदर्य को देखा, वह देखना तो है पर केवल देखना नहीं है। हमें अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए। एक है वासना भरी दृष्टि से देखना और एक है शुद्ध दृष्टि से देखना, केवल देखना। शुद्ध दृष्टि से केवल परसेप्सन है, कोरा दर्शन है, उसके साथ और कुछ भी जुड़ा हुआ नहीं है। जब मनुष्य का चिंतन, विचार और दृष्टि वासना से प्रेरित होती है, तब देखना शुद्ध नहीं रहता, वहां ज्ञान शुद्ध नहीं रहता। जब चेतना अन्तर-जगत में फैलती है तब वह स्वच्छ और निर्मल बनी रहती है। जब वह वस्तु-जगत में फैलती है तब वह अनेक सम्पर्कों से जुड़कर निर्मल नहीं रह पाती। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से यह सीखना है कि शुद्ध चेतना को, वासनामुक्त चेतना को देख सकें। यदि यह अभ्यास बढ़ता है तो धीरे-धीरे दृष्टिकोण बदल जाता है। दृष्टिकोण का परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

आंख आंख के स्थान पर है। अनुभव का तंत्र अनुभव के तंत्र के स्थान पर है। हमारे संवेदन-केन्द्र मस्तिष्क में यथावत हैं। सब अपने-अपने स्थान पर हैं। वे नहीं बदलते पर उनके पीछे काम करने वाली प्रेरणा बदल जाती है, परिणाम बदल जाते हैं। इसी का नाम है—दृष्टिकोण का परिवर्तन। जब एक प्रकार की वासना, चाहे फिर वह रागात्मक हो या द्वेषात्मक—व्यक्ति के जीवन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का संचालन करती है तब व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है और वह प्रेरणा मुख्य बन जाती है। इस स्थिति में जीवन का सारा तन्त्र गड़बड़ा जाता है।

पुराने काल की बात है। आचार्य शुभंकर के संपर्क में एक युवक आया। उसका नाम था सुव्रत। उसका वैराग्य बढ़ा और वह साधु बन गया। एक बार आचार्य शुभंकर पाद-विहार करते-करते राजगृह पहुंचे। वे स्थान पर आ गये। श्रावक आकर बोले—गुरुदेव! आज हम आपकी आगवानी में नहीं आ सकेंगे, इसका हमें खेद है। आज नगर में मोदक-महोत्सव है। इस उत्सव को हम मोदक खाकर मनाते हैं। वे मोदक साधारण नहीं होते, केसरिया मोदक होते हैं। मुनि सुव्रत ने 'केसरिया' मोदक का नाम सुना। उनकी वासना जाग गई। वह संपन्न घर का था और गृहस्थ अवस्था में केसरिया मोदक का शौकीन था। साधु बनने के बाद मोदक कहां से आए? नाम सुनते ही वासना जाग गई। आचार्य ने उस दिन उपवास कर लिया। शेष मुनियों ने भी उपवास कर लिया। अब केवल मुनि सुव्रत बचा। उसकी भावना और तीव्र हो गई। उसने सोचा—अब कोई संविभाग लेने वाला नहीं है। आज जी भर केसरिया मोदक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

खाऊंगा।

वह भिक्षा की आज्ञा लेकर नगर में गया। अब वह हर घर-घर केसरिया मोदक के लिए घूमने लगा। सभी घरों में तो वे होते नहीं। कहीं-कहीं संपन्न घरों में ही होते हैं। वह घंटों तक घूमता रहा पर उसे एक भी केसरिया मोदक नहीं मिला। वासना प्रबल होती गई। वह घूमता रहा। पागलपन छा गया। वह इतना विह्वल बन गया कि उसे याद ही नहीं रहा कि वह साधु है। जब व्यक्ति में कोई आकांक्षा प्रबल होती है तब वह बेभान हो जाता है और यह देखने वाली दृष्टि समाप्त हो जाती है। तब तक आदमी अच्छा है जब तक किसी बात की आकांक्षा प्रबल नहीं होती। आकांक्षा विह्वलता का रूप न ले, यह अपेक्षित है।

मुनि सुव्रत घूमता रहा। घूमते-घूमते सांझ हो गई। रात हो गई। वह संतप्त होकर 'केसरिया मोदक', 'केसरिया मोदक' रट लगाने लगा। जोर-जोर से शब्द करता रहा। एक व्यक्ति ने सुना। उसने कहा महाराज! मेरे घर आएं। केसरिया मोदक दूंगा। मुनि प्रसन्नता से उसके घर गया। मोदक लिया और मन हर्ष से उछल पड़ा। उसने ऊपर देखा। तारे चमचमा रहे थे। रात आधी बीत चुकी थी। उसे होश आया। उसने सोचा—अब मोदक कैसे खाऊंगा? वह आचार्य के पास जाने के लिए तैयार हुआ। श्रावक ने कहा—महाराज! यहीं मेरी उपासनाशाला में ठहर जाएं। वहीं ठहर गए। अब दृष्टि बदल गई। न केसरिया

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मोदक की चाह, न भ्रमण, न व्याकुलता। अपने असद आचरण पर पश्चात्ताप।

केसरिया मोदक को देखने की एक दृष्टि थी आचार्य की और एक दृष्टि थी मुनि सुव्रत की। दोनों देख रहे थे। आचार्य ने देखा—गरिष्ठ भोजन नहीं करना है। उपवास करना श्रेयस्कर है। न राग की वासना और न द्वेष की वासना। एक दृष्टि थी मुनि सुव्रत की। आकांक्षा, लालसा, विह्वलता। वह पागल हो गया।

प्रत्येक दृष्टि और प्रेरणा के पीछे दो प्रकार की वासनाएं काम करती हैं। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति उस दृष्टि या दर्शन को उपलब्ध होता है जहां केवल दर्शन होता है, देखना होता है। उसके साथ कुछ भी जुड़ा हुआ नहीं रहता। यह जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। हजार संपदाएं मिल सकती हैं, हजार प्रकार के वैभव मिल सकते हैं किंतु शुद्ध दृष्टि का मिलना दुर्लभ है। बहुत कठिन बात है वासनामुक्त दृष्टि उपलब्ध हो। केवल देखने की शक्ति को जगा पाना महान जागृति है।

घर में पिता अपने पुत्र को देखता है। वह या तो यह देखता है कि पुत्र मेरे अनुकूल है, मुझे प्रिय है। या वह देखता है कि पुत्र उद्दंड है, अविनीत है, अप्रिय है। वह पुत्र को केवल पुत्र की दृष्टि से बाद में देखेगा और प्रिय या अप्रिय की दृष्टि से पहले देखेगा। सास बहू को इस दृष्टि से देखती है कि यह मेरा सारा काम करती है, मेरी आज्ञा का पालन करती है तो प्रिय है और यदि काम नही करती, क्रोध करती है तो अप्रिय है। सास भी बहू को बहू की दृष्टि से नहीं देखती किंतु अपने स्वार्थ की दृष्टि से देखती है। कहा जा सकता है कि प्रत्येक दर्शन के साथ हमारी कोई न कोई वासना जुड़ी हुई रहती है। इसलिए यह सही है कि मनुष्य का कभी मूल्यांकन नहीं होता, मूल्यांकन होता है वासना का, स्पर्श का और साथ में जुड़ी हुई भावनाओं का। इन आधारों से होने वाला मूल्यांकन सही नहीं हो सकता। उसे जो स्थान मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता। कोई भी आदमी आदमी को आदमी की दृष्टि से नहीं देख सकता। वह उसको और-और दृष्टियों से देखता है।

प्रेक्षाध्यान की पद्धति दर्शन की पद्धति है। दर्शन का अर्थ है—साक्षात्कार, शुद्ध दृष्टि, केवल देखना। जब हम वासनात्मक दृष्टि से देखते हैं तब मनुष्य का भी यथार्थ बोध नहीं हो पाता तो सूक्ष्म सत्यों की उपलब्धि कैसे हो सकती है? सूक्ष्म सत्य को हम कैसे पकड़ सकते हैं? सारे दरवाजे बन्द हो जाते हैं। दर्शन है—शुद्ध चेतना का प्रयोग—जब हमारी चेतना वस्तु का निर्णय करे, व्यक्ति या विषय का निर्णय करे तब वह यथार्थ का निर्णय करे, जो जैसा है, उसको उस

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दृष्टि से देखे। क्या हमारी दृष्टि शुद्ध है कि हम जो जैसा है, उसको उस दृष्टि से देख सकें? देखने के साथ-साथ या उसके पहले हमारी वासनाएं आ जाती हैं और तब वासनाओं के माध्यम से ही हम किसी को देख पाते हैं।

एक आदमी को देखा और देखते ही आंखें लाल हो गईं। देखा बाद में और आंखें लाल पहले ही हो गईं? क्यों? देखा बाद में, स्मृति पहले हो गई कि यह वही व्यक्ति है, जिसने मुझे सताया था। व्यक्ति गौण हो गया, दर्शन गौण हो गया और स्मृति सामने आ गई। उस स्थिति में वह व्यक्ति को यथार्थ रूप से नहीं देख पाता। वह उस स्मृति के आधार पर देखता है। वह स्मृति के चश्मे से व्यक्ति को देखता है। यह प्रेक्षा नहीं है। देखने के साथ स्मृति जुड़ गई। स्मृति और कल्पना—ये दोनों वासनाओं पर दबाव डालते हैं। न जाने जीवन में किन-किन व्यक्तियों के साथ कैसे-कैसे सम्पर्क रहे हैं और जब वे व्यक्ति सामने आते हैं तब व्यक्ति सामने नहीं रहता, स्मृति या कल्पना सामने आकर खड़ी हो जाती है। किसी के साथ प्रियता की स्मृति जुड़ी होती है और किसी के साथ अप्रियता की स्मृति जुड़ी हुई होती है। कल्पना में भी ऐसा ही होता है।

एक बार कंस ने अष्टांग निमित्त के ज्ञाता से पूछा—मैं अपनी मौत मरूंगा या किसी के हाथों मेरी मौत होगी? इस प्रश्न के पीछे कंस की वासना काम कर रही थी, उसके मन में वासना थी, अपराध थे, उसके कुछ काले कारनामे थे। उसे लगता था कि कोई न कोई उसे मारेगा। इसलिए उसने नैमित्तिक से प्रश्न पूछा था। नैमित्तिक ने कहा—तुम्हारी मृत्यु उसके हाथ से होगी, जो तुम्हारे.....मल्ल को मारेगा।

कंस की एक वासना ने काम किया और दूसरी वासना उभर गई।

क्या मरने का प्रश्न भी पूछने जैसा होता है? क्यों पूछा जाता है यह प्रश्न? जब मरना है तब मरना है। मरना है बीस वर्ष बाद और मरने का भय अभी से सताने लग जाता है। वह बीस वर्ष बाद नहीं, आज ही से मरने लग जाएगा, अधमरा हो जाएगा।

प्रेक्षा के अभ्यासी के मन में मौत का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। एक भाई ने पूछा—मुझे डर बहुत लगता है। क्यों लगता है, यह नहीं जान पाता। स्पष्ट कारण कुछ भी नहीं है, पर हर बात का डर लगता है।

मैंने कहा—भय इसलिए लग रहा है कि अभी तक प्रेक्षा का अभ्यास परिपक्व नहीं हुआ है। सबसे बड़ा भय है मृत्यु का। मौत से बड़ा कोई भी डर का कारण नहीं है। किन्तु प्रेक्षा का अभ्यास करने वाला व्यक्ति मृत्यु के साथ भी निकटता से संपर्क स्थापित कर लेता है और उसे पहचान लेता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। पहचानने के बाद डर की बात समाप्त हो जाती है। उसके लिए मौत केवल मौत रह जाती है। हमने अपनी कल्पना के कारण ही मौत को भयानक माना है। जब कपड़ा पुराना हो जाता है तब उसको उतार कर नया कपड़ा पहनना पड़ता है। यह स्वाभाविक बात है पर पुराने के साथ हमारा संस्कार इतना पुष्ट है कि पुराने कपड़े को फेंकने में भी हमें खतरा दीखने लग जाता है। आदमी कल्पना करता है—पुराना चला जाएगा, नया आएगा पर वह मेरे अनुकूल होगा या नहीं? वह सुखदायी होगा या दुःखदायी?

सेठ ने भिखारी को बुलाकर कहा—मैं तुम्हें अपना दामाद बनाना चाहता हूं। भिखारी राजी हो गया। दामाद होने का अर्थ है—अपारसंपत्ति का स्वामी बनना। सेठ के कर्मचारियों ने उस भिखारी के भिक्षा पात्र को सड़क पर फेंक दिया। यह देखते ही भिखारी चिल्लाने लगा—मेरा भिक्षा पात्र, मेरा भिक्षा पात्र। सेठ ने सड़क पर फेंके हुए भिक्षा पात्र को मंगाया और उसके सामने रख दिया। वह तत्काल शांत हो गया। कैसी विसंगति है? एक ओर वह भिखारी सेठ का दामाद बनकर करोड़ों की संपत्ति का स्वामी बनने जा रहा है और दूसरी ओर वह टूटे-फूटे भिक्षापात्र के लिए चिल्ला रहा है, रो रहा है। कारण यह है—भिक्षापात्र के साथ उसके संस्कार बहुत प्रगाढ़ हैं, उसके साथ अनेक स्मृतियां और कल्पनाएं जुड़ी हुई हैं। वह उन सबसे मुक्त हो नहीं पाता इसीलिए वह चिल्लाता है, रोता है।

हम पूरे जीवन का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि जितनी दुर्बलताएं, मानसिक कठिनाइयां, मानसिक समस्याएं, जो अशांति पैदा कर रही हैं, वे सारी परिस्थिति-जन्य नहीं हैं। हमने परिस्थितियों पर केवल आरोपण कर दिया है। हमने हर अशांति के लिए जिम्मेवार बना लिया दूसरे व्यक्ति को किन्तु ये सारी की सारी कठिनाइयां हमारी ही प्रतिबिम्ब हैं। हमारी वासनाओं के प्रतिबिम्ब हैं। हमारे मन की वासनाएं सामने आती हैं और अशांति पैदा कर देती हैं। तब हमें कोई न कोई दूसरा बहाना खोजना पड़ता है और हम उसका आरोपण दूसरे पर कर देते हैं।

आचार्य भिक्षु ने 'शील की नवबाड़' ग्रंथ में लिखा है—एक व्यक्ति खाने का शौकीन था। रस लोलुपता के कारण एक दिन उसने डटकर खा लिया। अजीर्ण हो गया। पेट में दर्द सताने लगा। घरवालों ने वैद्य को बुलाया। वैद्य ने कारण जानना चाहा। अब वह कैसे कहे कि वह सारी गड़बड़ अधिक खाने से हुई है। वैसा कहने पर दुर्बलता प्रकट होती है। कोई भी आदमी अपनी दुर्बलता दूसरों के समक्ष प्रकट करना नहीं चाहता। अपनी विशेषता ही दिखाना चाहता है। आदमी अपनी दुर्बलताओं को स्वीकारना भी नहीं चाहता। वैद्य के पूछने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पर वह कहता है—आज मौसम खराब है, इसलिए गैस ज्यादा बन गई और पेट में दर्द होने लग गया। कितना आश्चर्य! इतना खा लिया कि वायु के संचरण के लिए स्थान ही नहीं रहा। उसने आरोपण कर दिया परिस्थिति पर। प्रेक्षा का उद्देश्य है कि यथार्थ को देखो, जो जैसा है, उसको वैसा स्वीकार करो।

एक भक्त ने भगवान से प्रार्थना करते हुए कहा—'मैं आपसे न धन मांगता हूं, न संतान, न परिवार और न वैभव। मैं आपसे केवल यह चाहता हूं कि मेरी दृष्टि ऐसी निर्मल बने, जिससे मैं यथार्थ को देख सकूं, जो जैसा हो, उसको वैसा देख सकूं।'

यह मांग बहुत बड़ी मांग है, अद्भुत मांग है, जो शायद बहुत कम भक्तों ने मांगी हो। अधिकांश लोग तो यही मांगते हैं कि बीमारी मिट जाए, संतान हो जाए, धन मिल जाए, कोई मेरे पक्ष में हो जाए। परन्तु ऐसी मांग करने वाला भक्त विरल ही होता है कि मेरी दृष्टि निर्मल बन जाए और मैं यथार्थ को यथार्थ की दृष्टि से देख सकूं। प्रेक्षा का प्रयोग उस मांग को पूरी करने वाला प्रयोग है।

कुछ लोग नमक खाते हैं, कुछ लोग नहीं खाते। नमक खाने वाले भोजन के स्वादिष्ट होने या न होने का आरोपण करते रहते हैं। नमकयुक्त भोजन स्वादिष्ट होता है। जो नमक नहीं खाता, उसके लिए स्वाद-अस्वाद कुछ भी नहीं होता। जो भोजन की प्रेक्षा करना सीख जाता है, वह आरोपण से मुक्त हो जाता है। आदमी नहीं जानता कि गेंहू में कितना मिठास होता है? कितना स्वाद होता है? वह आरोपण से जानता है कि नमक है तो स्वादिष्ट है, अन्यथा नहीं। हम आरोपित को स्वादिष्ट मानते हैं, सहज को स्वादिष्ट नहीं मानते। आरोपण की बात प्रेक्षा से परे जाने की बात है। प्रेक्षा सहज प्रकृति है। प्राकृतिक चिकित्सकों ने एक बात ही—'प्रकृति उपचार करती है। औषधि लेने की जरूरत नहीं है।' यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह प्रेक्षा के निकट का सूत्र है परन्तु इस बात को समझने के लिए दृष्टि चाहिए।

एक आदमी सिरदर्द से पीड़ित है। वह तत्काल गोलियां लेगा और उससे छुटकारा चाहेगा। प्रेक्षा कहती है—दर्द के स्थान को देखो, दर्द क्यों हो रहा है, उसे देखो। गहराई से पांच-दस मिनट देखो, संभव है दर्द गायब हो जाएगा। यह परिणाम शत-प्रतिशत नहीं तो कम से कम 70-80 प्रतिशत तो आ सकता है। प्रश्न होता है देखने मात्र से दर्द कैसे गायब हो जाता है? इसका भी बहुत स्पष्ट कारण है। दर्द होता है प्राणशक्ति के अवरोध के कारण। शरीर के जिस भाग में प्राणशक्ति का अवरोध होता है, वहां दर्द प्रारम्भ हो जाता है। गहराई से

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

देखने पर वह अवरोध धीरे-धीरे मिटने लगता है और वहां पुनः प्राण-संचार प्रारम्भ हो जाता है। प्राण-संचार होते ही दर्द मिट जाता है।

यदि प्रेक्षा की बात, केवल देखने की बात समझ में आ जाती है तो जीवन में एक नई स्फूर्ति, नई प्रेरणा और नया आलोक आ जाता है, जीवन की सारी दिशा बदल जाती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सामाजिक चेतना

आज सबसे बड़ी समस्या है कि आदमी बदल नहीं रहा है। बदलने के प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी बदल नहीं रहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि जितने भी प्रयत्न चल रहे हैं वे सारे परिस्थिति को बदलने के अधिक चल रहे हैं, आदमी को बदलने के कम चल रहे हैं। परिस्थिति का निर्माता आदमी है। परिस्थिति आदमी के निर्माण से निमित्त बन सकती है पर वह निर्मात्री नहीं है। यदि यह दृष्टि स्पष्ट हो जाए तो परिवर्तन की दिशा बदल सकती है। समाज का संदर्भ छोड़ दिया जाए तो विकास की परिभाषा ही नहीं बनती, भाषा ही नहीं बनती। भाषा समाज को बांधती है। उसका विकास समाज में ही होता है। समाज के सम्पर्क का सबसे बड़ा सूत्र है—भाषा। उसी से समाज प्रारम्भ होता है। यदि भाषा न हो तो चिंतन नहीं हो सकता। भाषा और चिन्तन—ये दो न हों तो समाज की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। उसका कोई अस्तित्व ही नहीं बनता। आदमी अकेला ही बना रहता है।

समाचार पत्र में पढ़ा कि कुछ वैज्ञानिकों ने खोजकर यह निष्कर्ष निकाला है कि बत्तख और मुर्गी के अण्डे परस्पर बात करते हैं। जो अंडे बात करते हैं, वे अपनी खोल जल्दी छेड़कर जल्दी बाहर आ जाते हैं और जो बात नहीं करते उन अण्डों को खोल से निकलने का समय लम्बा होता है। वैज्ञानिकों ने उन अंडों की ध्वनियों को रेकार्ड किया है, सुना है और इस अनुमान पर पहुंचे हैं कि अंडे आपस में यही बात करते हैं कि कब जल्दी से इस खोल के बाहर निकलें।

अण्डे भी बात करते हैं, बतियाते हैं क्योंकि उनका भी अपना समाज होता है। जहां एक से दो हो जाते हैं, वहां बात प्रारम्भ हो जाती है, भाष शुरू हो जाती है और समाज बन जाता है।

भाषा सामाजिक अस्तित्व का पहला सूत्र है। इसके बाद चिन्तन चलता है और समाज आगे बढ़ जाता है। समाज में जीने वाला व्यक्ति, समाज में अपनी असलियत प्रकट करने वाला व्यक्ति यदि सामाजिक चेतना की बात नहीं सोचता, उसका रूपांतरण नहीं करता, यह सबसे बड़ी समस्या बन जाती है। यह चिंतनीय पहलू है।

शिक्षा का काम है—संस्कार का निर्माण। चाहे प्रेक्षाध्यान की शिक्षा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हो, चाहे विद्यालय की शिक्षा हो या अन्य कोई शिक्षा हो, सबका एकमात्र उद्देश्य है—चेतना का रूपांतरण करना। चेतना वैसी की वैसी बनी रहे तो शिक्षा का कोई अर्थ ही नहीं होता। उसकी अर्थवत्ता इसी में है कि वह प्रत्येक व्यक्ति से कुछ होने (to be) की भावना जगाए। होना है, आगे बढ़ना है, जैसा का तैसा नहीं रहना है—इस भावना का जागरण अपेक्षित है। मिट्टी को केवल मिट्टी ही नहीं रहना है, उसे घड़ा बनना है, आधार बनना है। यदि यह बनने की बात जाग जाए तो शिक्षा सार्थक हो जाती है।

वर्तमान में एक ओर विद्यालयों में शिक्षा चलती है, दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र में शिक्षा चलती है। विद्यालयों की शिक्षा तथ्यात्मक चेतना को जगाती है। उस शिक्षा के कारण तथ्यों और आंकड़ों की जानकारी बढ़ी है। विद्यार्थी उसमें व्युत्पन्न हो जाता है। उसमें आकलनात्मक ज्ञान बहुत बढ़ जाता है किंतु इसके साथ तीन बातें और अपेक्षित होती हैं। चरित्र विकास के लिए केवल जानना ही पर्याप्त नहीं है, केवल पढ़ लेना ही पर्याप्त नहीं है किंतु उसके साथ-साथ सामाजिक चेतना का विकास, भौतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास अपेक्षित है। यदि ये तीनों हों तो एक सुन्दर श्रृंखला बनती है। इस प्रकार हमारे सर्वांगीण विकास के ये चार सूत्र हैं—

1. तथ्यात्मक चेतना का विकास।
2. सामाजिक चेतना का विकास।
3. नैतिक चेतना का विकास।
4. आध्यात्मिक चेतना का विकास।

जब इन चार सूत्रों के आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण होता है तब उस व्यक्तित्व से चरित्र की आशा की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि आज की अनेक समस्याएं, चारित्रिक विकास के अभाव में पनप रही हैं। आज प्रत्येक क्षेत्र समस्याओं से आकुल है। भ्रष्टाचार है, पक्षपात है, आपाधापी है, भाई-भतीजावाद है, संग्रह की आकांक्षा है, जमाखोरी और रिश्वत का बोलबाला है—ये सारी समस्याएं हैं। सब जानते हैं। केवल समस्याओं को जानने मात्र से अथवा समस्याओं के गीत गाने मात्र से समस्याओं से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। आखिर समस्याओं का समाधान ढूंढना होगा।

समस्याओं के समाधान का पहला सूत्र है सामाजिक चेतना का विकास। प्रत्येक व्यक्ति में यह चेतना विकसित होनी चाहिए—'मैं अकेला नहीं हूं।' यदि समाज के क्षेत्र में 'मैं अकेला हूं'—इस चेतना का विकास हो जाए तो सामाजिक चेतना का लोप हो जाएगा। 'मैं अकेला हूं'—यह अध्यात्म के क्षेत्र की चेतना है। समाज में इससे काम नहीं चलता। व्यक्ति को समाज के परिप्रेक्ष्य में उस चेतना का विकास करना है कि मैं अकेला हूं किंतु उसकी एक सीमा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। समाज की सीमा में इसका विकास आवश्यक है कि 'मैं अकेला नहीं हूं।' इस चेतना का विकास अनेक बुराइयों को रोक देता है।

आज पदार्थ के जगत में जीने वाले व्यक्ति के लिए पदार्थ संग्रह का प्रश्न है। यदि उसमें चेतना जाग जाए कि 'मैं अकेला हूं' तो फिर वह वस्तु के संग्रह में कोई कमी नहीं रखेगा और वह जितना संचय कर सकेगा, उतना करेगा। इसी दृष्टिकोण ने अनेक समस्याएं पैदा की हैं।

आज की बहुत सारी भ्रष्टताओं के पीछे 'मैं अकेला नहीं हूं' इस चेतना के जागरण का अभाव काम कर रहा है। यदि यह चेतना प्रारम्भ से जाग जाए कि 'मैं अकेला नहीं हूं, पूरे समाज के साथ जी रहा हूं, पूरे समाज का सुख दुःख मेरा सुख-दुःख है, पूरे समाज का हित मेरा हित है और पूरे समाज का अहित मेरा अहित है तो समस्याओं का सुलझाव प्रारम्भ हो जाता है।

आज दो समस्याएं बहुत जटिल बन गई हैं। एक है आग्रह और दूसरी है संग्रह। समाज में जीने वाले व्यक्ति में आग्रह नहीं होना चाहिए और संग्रह भी नहीं होनी चाहिए। आज के समाज में आग्रह और संग्रह की मनोवृत्ति प्रबल है।

प्राचीनकाल में विचारों का आग्रह बहुत था। दर्शन के क्षेत्र में इस आग्रह के कारण अनेक वाद-विवाद होते थे। उन वाद-विवादों का परिणाम अत्यन्त दुःखद होता था, फिर भी उसका बोलबाला था। कोई भी व्यक्ति अपने विचार के आग्रह से मुक्त होना नहीं चाहता। क्या कोई व्यक्ति विचार का इतना ठेकेदार बन सकता है कि मैं कहता हूं वही सही है, मैं सोचता हूं वही सही है? यह ठेकेदारी कैसी? व्यक्ति कोई ईश्वर या सर्वज्ञ तो नहीं है। सामान्य बुद्धि या प्रतिभा के साथ जीने वाला व्यक्ति इतना दायित्व कैसे उठाए कि मैं कहता या सोचता हूं वही सही है। दूसरे जो कहते हैं, सोचते हैं, वह सारा असत्य है। अपने विचार के प्रति झुकाव होना, दृढ़ता का होना, एक सीमा तक ठीक है, किन्तु अपने विचार को सर्वांग सत्य मानकर दूसरों के विचार को कुचलने का प्रयत्न करना, यह कोई औचित्य नहीं है। इस आग्रह का परिणाम है विग्रह, संघर्ष और लड़ाइयां। इतिहास साक्षी है—जहां-जहां आग्रह पनपा है वहां-वहां विग्रह उभरा है। राजनीतिक जीवन-प्रणाली में भी यही हो रहा है। कहीं साम्यवाद है, कहीं समाजवाद है, कहीं एकतंत्र है और कहीं प्रजातंत्र है। इन प्रणालियों के कारण अनेक आग्रह पनपे हैं और यह मान लिया गया कि सह-अस्तित्व संभव ही नहीं है। दो विचार-प्रणालियां एक साथ नहीं चल सकतीं। सभी विचार-प्रणालियों का यह लक्ष्य बन चुका है कि समूचे संसार को अपने विचारों में ढालना है। यह ढालने की प्रक्रिया केवल तर्क या बात तक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ही सीमित नहीं रह गयी किन्तु युद्ध तक लड़ लिए गए। बड़े-बड़े युद्ध इस वैचारिक आग्रह के कारण हुए हैं।

दूसरी समस्या है—वस्तु का संग्रह। इसका भी परिणाम है विग्रह। यह आज बहुत स्पष्ट है। एक व्यक्ति अपनी व्यवसायिक क्षमता, औद्योगिक क्षमता के कारण वस्तुओं का विशाल संग्रह कर लेता है, जिसकी निष्पत्ति या परिणाम है विग्रह। चाहे वर्ग-संघर्ष हो, चाहे मजदूरों का संघर्ष हो, चाहे हड़तालें या घेराव हों—इनका मूल कारण है वस्तु का संग्रह।

वैचारिक आग्रह और वस्तु-संचय—ये दोनों वैयक्तिक चेतना के परिणाम हैं। जब व्यक्तिगत चेतना प्रबल बन जाती है, व्यक्तिगत अस्मिता सशक्त बन जाती है तब समाज का अस्तित्व सामने नहीं रहता और ये समस्याएं या विग्रह उभर जाते हैं। यदि शिक्षा के प्रारम्भ में ही सामाजिक चेतना को प्रबल बनाने का कोई उपक्रम हो, प्रत्येक विद्यार्थी की सामाजिक चेतना जाग जाए तो परिणाम बदल जाएगा, आग्रह कम हो जाएगा। सामंजस्य बढ़ेगा। तब वह सोचेगा—एक है मेरा विचार और एक है इनका विचार—दोनों में तनाव होगा, खिंचाव होगा तो रस्सी टूट जाएगी।

पूज्य कालूगणीजी कहा करते थे—एक रस्सी को दो व्यक्ति, दो छोरों से पकड़कर खींच रहे हैं। दोनों दृढ़ता के साथ खींच रहे हैं। रस्सी टूट गई। दोनों जमीन पर धड़ाम से गिर पड़े। एक रस्सी को खींचता है और दूसरा व्यक्ति उसे ढीली छोड़ देता है तो खींचने वाला गिर जाएगा, ढीली छोड़ने वाला खड़ा रह जाएगा और यदि दोनों रस्सी को ढीली छोड़ देते हैं तो दोनों खड़े रह जाते हैं। यह है समझौते की प्रक्रिया। विचारों में सामंजस्य बिठाया जा सकता है। असंभव कुछ भी नहीं है। यह अहंकार टूटे कि मैं जो कहता-सोचता हूं, वही सही है। दूसरे की बात भी सही हो सकती है। संभव है—मेरे चिंतन में न आई हो, सामने वाला व्यक्ति ठीक सोच रहा हो, मुझे ध्यान देना चाहिए।

'ताओ' का प्रसंग है। किसी ने कुछ पूछा। ताओ ने कहा—पूरा चित्र मेरे सामने नहीं है। जब तक पूरा चित्र सामने नहीं होता तब तक मैं कैसे दावा कर सकता हूं कि यह बात ठीक है। अधूरे चित्र के आधार पर कभी कोई पूरी कल्पना नहीं की जा सकती। यह सामंजस्य स्थापित करने का एक मार्ग है। जब दोनों अपने-अपने आग्रह से कुछ हटते हैं, तब समझौता हो जाता है। आग्रह में कोई बात नहीं बनती।

ऐसे आदमी भी होते हैं, जो झूठी बात को पकड़ लेते हैं, आग्रह कर बैठते हैं। उसे छोड़ते नहीं। इसका कारण है कि उसमें वैयक्तिक चेतना काम

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

करती है। वह सोचता है, इससे मुझे क्या लेना-देना। यह कौन होता है मुझे समझाने वाला। वह यह नहीं सोचता—वह भी समाज का एक अंग है, मैं भी समाज का एक अंग हूं। हमें समाज में साथ-साथ जीना है, सामाजिक जीवन जीना है। इसकी बात पर भी मुझे सोचना चाहिए। ऐसा नहीं होता। इससे अनेक समस्याएं उभरती हैं।

जहां सामाजिक जीवन है, वहां यदि कोई भी व्यक्ति वैयक्तिक चेतना की बात सोचता है तो वह समाज के प्रति बड़ी गद्दारी है। वह समाज के साथ अन्याय करता है। वह सामूहिक जीवन को नकारता है।

विचार का सामंजस्य तब हो सकता है जब सामाजिक चेतना का विकास हो जाता है।

वस्तु का संविभाग तब हो सकता है, जब सामाजिक चेतना का विकास होता है।

संविभाग का अर्थ है—किसी पदार्थ या संपदा पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व नहीं होता। संपत्ति सामाजिक होती है। कुछ बातें वैयक्तिक होती हैं और उनकी चर्चा अध्यात्म के क्षेत्र में भी हो सकती है। समाज का क्षेत्र अध्यात्म के क्षेत्र से भी भिन्न है। समाज के क्षेत्र में किसी वस्तु पर व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकता।

ईशावास्योपनिषद् में एक सूत्र है—किसी वस्तु का भोग करो तो उसे अपनी मानकर मत करो किन्तु ईश्वर के लिए समर्पण कर प्रसाद के रूप में उसे स्वीकार करो।

उदयपुर की परम्परा रही है कि महाराणा दीवान होते हैं, राजा नहीं होते। वहां एकलिंगजी का राज होता है और महाराणा दीवान होते हैं। पुरानी बात है। उदयपुर के महाराणा भीमसिंहजी ने आचार्य भारमलजी को एक 'रुक्का लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा—'एकलिंगजी रो राज छै, इसलिए आप पधारोगा' यह सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सामाजिक चेतना का सिद्धांत है। हम लोग तो केवल काम करने वाले हैं, राज्य तो ईश्वरीय है, समाज का है, ब्रह्म का है, किसी का कह दो, वह व्यापक सत्ता है। यह सामाजिक चेतना का संवाहक है। यदि यह कथन क्रियान्वित होता है तो समाज का पूरा ढांचा ही बदल जाता है। फिर व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं और स्वार्थों का पोषण का अवसर नहीं मिलता। स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा—ये दो तत्त्व सामाजिक चेतना के विकास में बाधक हैं। यहां भी प्रश्न होता है कि जिन राष्ट्रों में समाजवाद या साम्यवाद जैसी अवधारणाएं हैं, वहां भी व्यक्तिगत स्वार्थ की बात छूट नहीं रही है। यह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रमाणित हो चुका है कि दंड-व्यवस्था के बल पर इन भावनाओं को बदलना शक्य नहीं है। यदि हृदय-परिवर्तन किया जाए और शिक्षा के माध्यम से ऐसे संस्कार दिए जाएं, प्रारंभ से ही व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना ही समाप्त हो जाए तो कुछ परिवर्तन आ सकता है। अन्यथा जब-जब स्वार्थ की भावना प्रबल होती है, तब तब वैयक्तिक चेतना जाग जाती है और समाज के हित-अहित का प्रश्न समाप्त हो जाता है। इस भावना को स्पष्ट करने के लिए आचार्य भिक्षु ने एक दृष्यन्त दिया।

चार व्यक्तियों ने मिलकर एक गाय खरीदी। गाय एक, मालिक चार। एक व्यक्ति के घर पहले दिन गाय रही। उसने गाय को दुहा। दोनों समय दूध निकाला पर चारा नहीं डाला। उसने सोचा—गाय तो मेरे पास आज-आज है। मैंने दूध तो निकाल लिया। मेरा काम हो गया। कल जो दूध निकालेगा, वह अपने आप गाय को खिलाएगा, पिलाएगा, मैं क्यों चिंन्ता करूं? दूसरे दिन गाय दूसरे के घर पहुंचा दी। उसने भी गाय को दुहा पर जब चारा-पानी डालने की बात आई तब उसके मन में भी वह तर्क जागा। उसने सोचा, कल तो खाकर आई है, फिर कल इसे खाने को मिलेगा ही। मैं आज इसे न खिलाऊं-पिलाऊं तो क्या अंतर आएगा? उसने चारा-पानी नहीं दिया। गाय दो दिन भूखी-प्यासी रही। तीसरे दिन तीसरे व्यक्ति के पास गाय गई। उसने दूध दुहना चाहा। बहुत कम दूध निकला, क्योंकि गाय दो दिन की भूखी-प्यासी थी। उसके मन में भी वही तर्क उठा। आखिर चेतना तो वही काम कर रही थी। उसने भी चारा-पानी नहीं दिया। चौथे दिन भी वही स्थिति रही। गाय ने दूध देना बंद कर दिया।

चारों में एक ही चेतना काम कर रही थी। स्वार्थ इतना प्रबल हो गया कि चारों स्वार्थ में अन्धे हो गए। उन्होंने यह नहीं सोचा कि खाए-पिए बिना गाया दूध कैसे देगी? अहित या अलाभ किसके होगा? स्वार्थान्ध आदमी अपने स्वार्थ को भी नहीं देखता? जो स्वार्थी होते हैं, वे सचाइयों को जानते हुए भी नहीं जान पाते। यही तो हमारी अविद्या है। अविद्या का तात्पर्य है—देखते हुए भी न देखना, जानते हुए भी न जानना।

जो लोग केवल प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं, परिणाम में विश्वास नहीं करते, वे हमेशा आंखमिचौनी करते रहते हैं। वे प्रवृत्ति को ठीक देख लेते हैं पर परिणाम का चिंतन नहीं करते। प्रवृत्ति सुखद हो सकती है, पर परिणाम दुःखद हो सकता है। प्रवृत्ति दुःखद हो सकती है पर परिणाम सुखद हो सकता है। स्वार्थ में जीने वाला व्यक्ति प्रवृत्तिवादी होता है। वह केवल प्रवृत्ति पर ध्यान देता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परिणाम को नजरअन्दाज कर देता है। वह प्रवृत्ति को परिणाम के आधार पर नहीं आंकता।

आज का संसार भयाक्रान्त है। वह सोचता है, जब तीसरा महायुद्ध होगा तब कुछ भी नहीं बचेगा। महाप्रलय हो जाएगा। आज के वैज्ञानिकों ने ऐसी गैसें, रसायन आदि आविष्कृत किए हैं कि उस महाप्रलयंकारी युद्ध में आदमी तो एक भी नहीं बच पाएगा पर चीजें ज्यों की त्यों सुरक्षित रह जाएंगी। मकान सुरक्षित, अनाज सुरक्षित, सोना-चांदी सुरक्षित, सब पदार्थ बच जायेंगे किन्तु प्राणी एक भी नहीं बचेगा। बात बड़ी बुद्धिमत्ता की है। आज के आदमी में चाहे फिर वह वैज्ञानिक ही क्यों न हो—पदार्थ की चेतना ही तो काम कर रही है, इसीलिए वह उसे बनाए रखना चाहता है। उसे पदार्थ की चिन्ता है, और किसी की चिन्ता नहीं है।

कानपुर की बात है। एक व्यक्ति आचार्य तुलसी के पास आकर बोला—आचार्यजी! मैं जीवन में एक महत्त्वपूर्ण काम करना चाहता हूं। वह यह है कि गीता संसार का महानतम ग्रन्थ है। आज युद्ध की विभीषिका चारों ओर मंडरा रही है। उस प्रलयंकारी युद्ध में सब कुछ नष्ट हो जाएगा। मैं गीता के पांच दस ग्रन्थ एक लोहे की पेटी में सुरक्षित रखकर जमीन में गाड़ देना चाहता हूं ताकि वह हजारों वर्षों तक सुरक्षित रह सके।

आचार्यश्री बोले—आपकी भावना सुन्दर है पर एक बात समझ में नहीं आ रही है कि ग्रन्थ तो सुरक्षित रह जाएगा परन्तु उसको पढ़ेगा कौन? आदमी तो सारे मारे जायेंगे, फिर अध्ययन कौन करेगा?

प्रश्न आदमी का है, चेतना का है। आज आदमी पदार्थ की चेतना में इतना उलझ गया है कि उसे पदार्थ दीख रहे हैं। इस स्थिति में लकीर से कुछ हटकर चिन्तन करना होगा, जिससे संग्रह के स्थान पर संविभाग का मूल्य बढ़े।

सामाजिक चेतना के जागरण के दो परिणाम हैं। पहला है—वैचारिक आग्रह मिटे, सामंजस्य बढ़े। दूसरा है—वस्तु-संग्रह कम हो और संविभाग की चेतना जागे। आग्रह और संग्रह का परिणाम होता है—विग्रह। सामंजस्य और संविभाग का परिणाम होता है—उपग्रह।

उपग्रह बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। आचार्य उमास्वाति ने एक सुन्दर सूत्र रचा है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'—जीवों का संबंध है—परस्पर आलंबन देना, उपकार करना, सहारा देना। यह सामाजिक चेतना का एक घटक सूत्र है। एक प्राणी दूसरे प्राणी का उपग्रह करता है। यह स्वाभाविक है। आदमी प्रातः घूमने जाता है। बगीचों में भ्रमण करता है। वृक्ष उस समय आक्सीजन छोड़ते हैं, उससे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आदमी उपगृहीत होता है और आदमी कार्बन छोड़ता है, उससे वृक्ष उपगृहीत होते हैं। दोनों ने दोनों का परस्पर उपकार कर दिया। एक आदमी दूसरे आदमी का, एक प्राणी दूसरे प्राणी का उपकार कर रहा है। यह प्राकृतिक जगत में चल रहा है। यह प्राणियों की स्वाभाविक प्रक्रिया है—एक प्राणी दूसरे प्राणी के सहारे जीता है किन्तु सामाजिक जीवन में जब सामाजिक चेतना का अभाव होता है तब इस सार्वभौम या प्राकृतिक नियम का अतिक्रमण होता है और विग्रह पैदा हो जाता है। यदि अतिक्रमण न हो तो परस्पर उपग्रह की बात समझ में आ जाती है।

जब चेतना बदल जाती है, तब उपग्रह की बात सामने आती है। चेतना बदल जाती है तब किसी को गाली देने, कोसने की बात सामने नही आती। आज जो कुछ हो रहा है, वह चेतना को न बदलने के कारण हो रहा है।

प्रश्न होता है, हम चेतना को कैसे बदलें? यह कोई आसान मार्ग नही है।

हमारे संघ में संविभाग का प्रयोग चलता है। कपड़ा, भोजन, स्थान—इन सबका संविभाग होता है। कपड़ा पांच के लिए पर्याप्त है, पर लेने वाले हैं पच्चीस। सबको आवश्यकता है। किसे दें और किसे न दें। एक को मिले और दूसरे को न मिले तो पक्षपात का आरोप लग जाता है। इस स्थिति में चिट्ठी की प्रणाली चलती है। पच्चीस व्यक्तियों के नाम लिखकर पच्चीस चिट्ठियां डाल दी जाती हैं। पांच चिट्ठियां किसी अज्ञात व्यक्ति से उठाई जाती हैं और उनमें जिनका नाम होता है, उन्हें वस्त्र या पात्र मिल जाता है। दूसरे को बोलने का अवकाश ही नही रहता। इसी प्रकार भिक्षा में चार रोटियां मिलती हैं और मुनि आठ होते हैं तो आठों को आधी-आधी रोटी मिलेगी। ऐसा नही होता कि बड़े को एक पूरी रोटी मिल जाए और छोटों को आधी से भी कम मिले।

हमारे संघ की ही एक घटना है। मुनि विहार कर रहे थे। पानी कम मिला। गर्मी का मौसम था। सबको प्यास लग रही थी। मुनि अधिक और पानी कम। एक व्यवस्था दी गई—प्रत्येक साधु माप-माप कर पानी पीए। एक बार उतना पानी पीने के पश्चात तीन घंटा तक दुबारा पानी न पीए। व्यवस्था हो गई। सभी साधु वैसा करने लगे। एक साधु को अधिक प्यास थी। व्यवस्था को भूल गया और अधिक पानी पी लिया। दूसरे मुनियों ने टोका और व्यवस्था बतलाई। उसने कहा—प्यास के लिए पानी है या पानी के लिए प्यास है? पानी भी कभी माप-माप कर पीया जाता है? आचार्य ने कहा—बात पानी की नही है। बात है व्यवस्था की। तुमने व्यवस्था को भंग किया है, संविभाग की व्यवस्था का अतिक्रमण किया है, इसलिए तुम्हारा संघ से संबंध-विच्छेद करते

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हैं, तुम संघ में रहने के अधिकारी नहीं हो।

संघीय जीवन या सामाजिक जीवन में वही व्यक्ति अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है, जिसमें सामाजिक चेतना जागृत है। कष्ट है तो सबको है। प्यासे रहना है तो सब रहें। पानी पीना है तो सब पीएं। पांच भरपेट पानी पीएं और दस टुकर-टुकर देखते रहें, यह नहीं हो सकता। जब सामुदायिक चेतना जाग जाती है तब अनेक समस्याएं स्वतः समाहित हो जाती हैं। ऐसी चेतना जाग सकती है, यदि सम्यक प्रयत्न हो तो।

प्रेक्षा का प्रयोग अध्यात्म को जगाने का प्रयोग है। पर साथ ही साथ यह सामुदायिक चेतना को जगाने का प्रयोग है। पुराने जमाने में यह माना जाता था कि ध्यान साधना करनी हो तो किसी गुफा में जाकर करनी चाहिए। ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान है कन्दरा, एकान्त स्थान। उस समय ग्रुप मेडिटेशन की बात नहीं थी। आज सामूहिक ध्यान पर बल दिया जा रहा है क्योंकि जो सशक्त वलय सामूहिक ध्यान में बनता है, वह अकेले के ध्यान में नहीं बनता। पचास व्यक्ति साथ में ध्यान करते हैं और उनमें यदि एक दुर्बल होता है तो उसे दूसरों की ऊर्जा का सहारा मिल जाता है और उसका ध्यान भी अच्छा हो जाता है। अकेले में केवल एक ही व्यक्ति की शक्ति काम करती है और समूह में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सहयोग पाता है।

प्रेक्षाध्यान के माध्यम से हम इस सचाई का अनुभव करें कि केवल आध्यात्मिक चेतना ही हमारे लिए पर्याप्त नहीं है, नैतिक चेतना और सामाजिक चेतना भी अपेक्षित है। जीवन का एक पहलू है—आध्यात्मिकता। परन्तु सारा जीवन अध्यात्म से संचालित नहीं हो सकता। उसमें नैतिक चेतना और सामाजिक चेतना भी चाहिए। जब सामाजिक चेतना जागृत होगी तो अध्यात्म चेतना को जागृत होने का भी मौका मिलेगा। यदि सामाजिक चेतना ही जागृत नहीं है तो अध्यात्म-चेतना को जगाने का अवसर ही नहीं मिलेगा। यदि हम सामाजिक चेतना को जगाने का उपयुक्त प्रयत्न करते हैं तो हमें समाधान की सशक्त श्रृंखला मिल सकती है, जिसके द्वारा हम नैतिक और आध्यात्मिक चेतना के जागरण की दिशा में प्रस्थान कर सकते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नैतिक चेतना

प्रेक्षाध्यान की साधना प्रकाश और ज्योति की साधना है। अंधकार और प्रकाश—दोनों जीवन के सहचर हैं। कभी प्रकाश सामने आता है और कभी अंधकार। अंधकार पूरा का पूरा मिट जाए, इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। यदि प्रकाश है तो अंधकार को होना ही होगा और यदि अंधकार है तो प्रकाश को होना ही होगा। एक हो, यह प्रकृति को मान्य नहीं है। यह प्रकृति के अनुकूल भी नहीं है। दोनों का होना अनिवार्य नियम है।

आदमी चिंतनशील प्राणी है। वह परिवर्तन ला सकता है। परिवर्तन की बात मन को आकर्षित करने वाली सबसे बड़ी बात है। जो व्यक्ति जिस रूप में है, उसी रूप में रहना यदि पसन्द करता है तो वह अंधकार में सबसे अधिक डूबा हुआ होगा। जिसके मन में परिवर्तन की भावना नहीं जागती, जो बदलने की बात नहीं सोचता वह इस दुनिया का सबसे बड़ा अभागा आदमी है। प्रत्येक व्यक्ति को निरन्तर बदलने की बात सोचनी चाहिए। बदलने की भिन्न-भिन्न भूमिकाएं हैं। भूमिका शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। हमारे जीवन में अनेक भूमिकाएं हैं। आदमी मकान में भी अनेक भूमिकाएं बना लेता है। प्राचीनकाल में सम्राट या चक्रवर्ती के मकान अनेक भूमिकाओं के होते थे। उनके मकान बयालीस भौम, सप्त भौम आदि अनेक प्रकार के होते थे। आज का शिल्प और आगे बढ़ा और 'मल्टी स्टोरी बिल्डिंग' खड़े कर रहे हैं। उनके सैकड़ों भूमिकाएं होती हैं। वे शतभौम होते हैं।

जीवन विकास की अनेक भूमिकाएं हैं। आरोहण, आरोहण और आरोहण—आगे से आगे चढ़ना, बढ़ना। आरोहण करना, चढ़ना, बढ़ना, बदलना, रूपान्तरण करना—ये सारे चिंतनशील व्यक्तित्व के सृजनात्मक दृष्टिकोण हैं। जिसका दृष्टिकोण सृजनात्मक नहीं होता, वह एक स्थिति में पहुंचकर संतोष मान लेता है। संतोष बहुत अच्छा होता है तो बहुत बुरा भी होता है। एक सूक्त है—असन्तुष्टो द्विजो नष्टः संतुष्टश्चापि पार्थिवः—ब्राह्मण यदि असन्तुष्ट होता है तो नष्ट हो जाता है और राजा संतुष्ट होता है तो नष्ट हो जाता है। जो ब्राह्मण है, त्यागी है, संन्यासी है, उसे संतोषी होना जरूरी है और राजा को असंतोषी होना जरूरी है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

असंतोष प्रगति का सूचक है। यह आगे बढ़ने वाला है। परिवर्तन के क्षेत्र में यदि आदमी संतोष कर बैठे तो अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। मनुष्य ने जो बदलने की भावना निर्धारित की, वह विवेकपूर्ण प्रयत्नों में सबसे बड़ा प्रयत्न है। परिवर्तन हमारी चेतना की भूमिका में होना चाहिए। शारीरिक स्तर पर परिवर्तन होते हैं, मानसिक स्तर पर परिवर्तन होते हैं। परिस्थिति के स्तर पर परिवर्तन होते हैं किन्तु ये सारे परिवर्तन चेतना को परिवर्तित किए बिना अर्थवान नहीं बनते।

आज सबसे बड़ी अपेक्षा है कि चेतना को बदला जाए। चेतना बदल सकती है। चेतना को बदलने का अर्थ बहुत व्यापक है। जब हम चेतना को बदलने का प्रयत्न करेंगे तो शरीर को भी बदलना होगा। शरीर की प्राण विद्युत को भी बदलना होगा, शरीर के रसायनों, फिर वे अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के हों, अथवा मस्तिष्क के हों, उन्हें बदलना होगा। हमारे शरीर में सैकड़ों प्रकार के रसायन बनते हैं, उन सबमें परिवर्तन लाना होगा। संस्कारों और वृत्तियों को बदलना होगा। इन सबके बदलने पर ही चेतना का रूपान्तरण होगा।

आज मूल्य-परिवर्तन के विषय में अनेक चर्चाएं हो रही हैं। परन्तु जीवन के मूल्य कैसे बदलें? जब तक चेतना नहीं बदलती तब तक मूल्य नहीं बदल सकते। मूल्यों की स्थापना चैतन्य के द्वारा होती है। कोई भी अचेतन द्रव्य मूल्यों की स्थापना नहीं करता। सारे के सारे मूल्य चेतना के द्वारा प्रस्थापित होते हैं। चेतना ही उसको विकसित करती है। जहां चेतना का विकास ही नहीं है, वहां मूल्य विकसित कैसे होंगे?

आदिम समाज में मूल्यों की कोई चर्चा नहीं होती थी। उस समय लोग जंगलों में रहते थे। जीवन के मूल्य विकसित नहीं थे। उनकी जीवन-चर्या पशुओं जैसी थी। गुफाओं में रहना, फल-फूल खा लेना, छाल पहन लेना, कुछेक प्राणियों को मार कर मांस खा लेना, बस यही उनकी जीवन-चर्या थी। जैसे-जैसे सामाजिक चेतना का विकास होता गया वैसे-वैसे मूल्यों का भी विकास होता गया। जैसे-जैसे समाज प्रगति कर रहा है, वैसे-वैसे चेतना भी रूपान्तरित हो रही है और मूल्य भी बदलते जा रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं—पुराना जमाना अच्छा था, आज का जमाना खराब है। आज कलियुग है। जो लोग इतिहास के अध्येता हैं, वे इस बात से सहमत नहीं होते। इतिहास उनका साक्षी है कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व जो बुराइयां प्रचलित थीं, उनमें कुछ परिवर्तन हुआ है और कुछ में विकास हुआ है। प्राचीनकाल में शासक वर्ग बहुत क्रूर था। आदमी में क्रूरता के संस्कार प्रबल

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

थे। आज का जन-मानस इतना जागृत हो गया है कि कोई भी शासक चाहने पर भी इतना क्रूर नहीं बन सकता, जितना प्राचीन शासक क्रूर होता था। साहित्य में अनेक घटनाएं हैं, जो निर्दयता की सूचक हैं। आज उनमें परिवर्तन आया है। परन्तु अतीत अच्छा था, यह कहकर सुख की सांस भले ही ली जाए किन्तु वास्तव में अतीत कैसा था, इसको पढ़कर ही जाना जा सकता है। आज रिश्वत की बीमारी है तो प्राचीनकाल में भी वह कम नहीं थी। महामात्य चाणक्य ने लिखा है—जल में तैरने वाली मछलियां आकाश में उड़ने लग जाएं, आकाश में उड़ने वाले पक्षी जल में तैरने लग जाएं, यह कभी संभव हो सकता है, पर राज्य-कर्मचारी रिश्वत न लें, यह कभी संभव नहीं है। प्राचीनकाल में मिलावट की भयंकर घटनाएं पढ़ने को मिलती हैं।

आज के आदमी ने विकास किया है। विचारों का बहुत विकास हुआ है। आज उतना क्रूर व्यवहार कोई नहीं करता। दास-प्रथा क्रूरता और शोषण का अन्तिम उदाहरण था। दासों की सारी स्वतंत्रता मालिक के चरणों में न्योछावर रहती थी। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती थी। एक प्रकार से वह पशु का जीवन जीता था। आज का आदमी दूसरे आदमी के प्रति वैसा क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता, उतना शोषण नहीं कर सकता।

जैसे-जैसे समय बीता है, वैसे-वैसे चेतना बदली है, विचार और मूल्य बदले हैं। इन सारे परिवर्तित मूल्यों के संदर्भों में हम नैतिक विकास की चर्चा करें तो प्रासंगिक बात होगी।

नैतिकता का प्रश्न बहुत उलझा हुआ है। सामाजिक चेतना का प्रश्न इतना जटिल नहीं है और आध्यात्मिक चेतना का प्रश्न भी इतना उलझा हुआ नहीं है किन्तु नैतिकता का प्रश्न अत्यन्त उलझा हुआ है क्योंकि इसके साथ अनेक संदर्भ जुड़े हुए हैं। राजनीति का संदर्भ है, कानूनों का संदर्भ है, अदालतों का संदर्भ है और पारस्परिक व्यवहारों का संदर्भ है। इन सारे संदर्भों के कारण नैतिकता की गुत्थी उलझी हुई है।

इसके विषय में हम क्या सोचें? कैसे सोचें? सबसे अच्छा तो यह है कि इस प्रश्न को हम व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना पर छोड़ दें। उसको जो व्यवहार अच्छा लगे, उसे हम नैतिकता मान लें। किन्तु इसमें भी अनेक समस्याएं हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने हर काम अच्छा प्रमाणित करने का तर्क उपस्थित करते हैं। इस स्थिति में हम एक मानदंड बनाकर चलें। वह मानदण्ड यह हो—नैतिक चेतना वह है, जो व्यक्ति को उठाने वाली हो, गिराने वाली न हो।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गामा पहलवान बनारस आया। मालवीयजी ने उसका सम्मान हिन्दु विश्वविद्यालय में करते हुए विद्यार्थियों से कहा—विद्यार्थियो! तुम सबको गामा पहलवान जैसा बनना है। इतने में ही गामा बीच में बोल पड़ा—विद्यार्थियो! गामा नहीं, तुम सबको मालवीयजी बनना है। गामा दूसरों को पछाड़ता है। मालवीयजी दूसरों को उठाते हैं। तुम सबको मालवीयजी बनना है।

चेतना का विकास ऐसा हो कि वह पछाड़ने वाली चेतना न हो, उठाने वाली चेतना हो। उठाने वाली चेतना का पहला सूत्र है—प्रामाणिक व्यवहार। नैतिक चेतना के जाग जाने पर जो व्यवहार होगा, वह प्रामाणिक ही होगा। नैतिकता का संबंध दो से होता है और आध्यात्मिकता का संबंध एक से होता है। नैतिकता द्विष्ठ है—दो पर आधृत है। अकेले आदमी के समक्ष नैतिकता-अनैतिकता का कोई प्रश्न नहीं होता। जब दो होते है तब प्रश्न होता है कि कैसा व्यवहार किया जाए। नैतिक व्यक्ति बेइमानीपूर्वक व्यवहार नहीं करेगा। वह पूरा प्रामाणिक व्यवहार करेगा।

नैतिक चेतना का दूसरा सूत्र है—मृदु व्यवहार। कुछ व्यक्ति क्रूर होते हैं। वे पशुओं तथा आदमियों के साथ ऐसा कठोर व्यवहार करते हैं कि उनकी क्रूरता प्रत्यक्ष हो जाती है। जहां क्रूरता है वहां नैतिकता का विकास कैसे हो सकता है? आदमी व्यापर में कितना क्रूर व्यवहार करता है? दहेज की भूख क्या क्रूर व्यवहार नहीं है? प्रतिवर्ष सैकड़ों मासूम बच्चियां दहेज की बलिवेदी पर आहूत होती हैं। जब ये सारी क्रूरताएं चलती हैं तब लगता है नैतिकता की बात कहां? हमने सबसे बड़ी भूल यह की है कि हमने नैतिकता को अलग मान लिया और धर्म को अलग मान लिया। परलोक को सुधारने के लिए धार्मिक होना जरूरी है, मोक्ष और स्वर्ग के लिए धार्मिक होना जरूरी है पर नैतिक होना जरूरी नहीं है। आदमी नैतिक हो या न हो, धर्म करने वाला हो, पूजा-पाठ करने वाला हो, जाप करने वाला हो फिर वह दुकान और घर पर कैसा ही व्यवहार करने वाला क्यों न हो। वह मानता है कि व्यवहार कैसा भी हो, गलती होगी तो भगवान के भजन से सारा पाप धुल जाएगा। एक-दो बार भगवान को आरती करेंगे और बस, पाप से छुटकारा मिल जाएगा। फिर कल से नई शुरुआत, नया चिन्तन, नई प्रवृत्ति। जहां इस प्रकार की धारणा बन जाती है कि धर्म अलग, अध्यात्म और धर्म की चेतना अलग, नैतिक चेतना अलग वहां नैतिक चेतना के विकास की चर्चा करने में संकोच होता है। आज चेतना का आमूलचूल परिवर्तन करना है।

नैतिक चेतना का तीसरा सूत्र है। निश्छल व्यवहार। आज का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अधिकांश व्यवहार वंचनापूर्ण है। सर्वत्र ठगाई, ठगाई और ठगाई है। दूसरों के साथ होने वाली ठगाई की बात छोड़ दें। आज पिता अपने पुत्र को ठगने की कोशिश कर रहा है और पुत्र अपने पिता को ठगने के लिए प्रयत्न करता है। क्योंकि जब नैतिक चेतना का जागरण नहीं होता, तब अर्थ की चेतना इतनी प्रबल हो जाती है कि अर्थ के सिवाय कुछ नहीं दिखता।

एक प्रकार के वे लोग हैं, जो रात्र्यन्ध—रात को नहीं देख पाते। एक प्रकार के वे लोग हैं, जो दिवान्ध—दिन में नहीं देख पाते। आज का आदमी अर्थान्ध है। उसे अर्थ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता। पुत्र पिता को, पिता पुत्र को, पति पत्नी को और पत्नी पति को, भाई भाई को, मित्र मित्र को, बिना हिचक के कोर्ट में घसीट लेते हैं, एक-दूसरे पर मुकदमें कर देते हैं। अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध जैसा दृष्टिगोचर ही नहीं होता। पुत्र पिता को कारावास में भेजकर प्रसन्न होता है तो पत्नी पति को जेल की हवा खिलाने में आनन्द मानती है। कहां है संबंध? कौन है किसका? अर्थ ही सब कुछ है। अर्थ ही भगवान है। अर्थ ही पिता है, पुत्र है, पत्नी है, पति है, मित्र है, भाई है।

जब अर्थ की चेतना प्रबल हो जाती है, एकाधिकार स्थापित कर लेती है तब नैतिक चेतना धुंधली हो जाती है, नीचे दब जाती है। इस अर्थ चेतना ने कितने अनर्थ किए हैं, कितनी समस्याएं उत्पन्न की हैं, इस तथ्य को हम विस्मृत नहीं कर सकते। आज मनुष्य के दुःख और अशान्ति का कारण यही नजर आ रहा है। इसलिए नैतिक चेतना की बात छेड़ी नहीं जा सकती। इसका जागरण बहुत अपेक्षित लगता है।

नैतिक चेतना का चौथा सूत्र है—निष्पक्ष व्यवहार। जब पक्षपात होता है तब नैतिक चेतना जागृत नहीं हो पाती। आज पक्षपात बहुत चलता है। अपने दल का पक्षपात, अपने व्यक्ति का पक्षपात, अपने परिवार का पक्षपात, अपने समाज का पक्षपात। इतना पक्षपात कि तटस्था कहीं दिखाई नहीं देती। पक्षपात की घटनाओं में हम नैतिक चेतना की कल्पना नहीं कर सकते।

नैतिक चेतना का पांचवां सूत्र है—विनम्र व्यवहार। उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार नैतिकता को टिकने नहीं देता।

अहंकार आज की समस्या है। कोई व्यक्ति सत्ता पर चला जाता है तो उसे सत्ता का अहंकार हो जाता है। कोई व्यक्ति धनवान बन जाता है तो उसे धन का अहंकार हो जाता है। कोई व्यक्ति किसी विशेषता को पा लेता है तो उसे विशेषता का अहंकार हो जाता है। फिर विशेषता चाहे ज्ञान की हो,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वक्तृत्व की हो अथवा लेखन की। आश्चर्य होता है कि जो ज्ञान अहंकार को मिटाने वाला है, उसका भी अहं होता है। कहा गया—'विद्या ददाति विनयं'। यह अनुभव की वाणी है कि ज्ञान का भी अहंकार है, कला और शिल्प का भी अहंकार है। विशेषता वह होती है, जो सबमें नहीं होती, एक में होती है। इसका यह तात्पर्य हो गया कि स्पेशेलाइजेशन भी एक खतरा हो गया। विशेषता को उपलब्ध करना भी खतरनाक हो गया।

एक आदमी दूसरे आदमी के साथ व्यवहार करता है तब नैतिकता का प्रश्न आता है। उस व्यवहार को कसने के लिए ये पांच कसौटियां हैं। उसे तोलने के लिए ये पांच तुलाएं हैं। इन्हीं के आधार पर आदमी को परखा जा सकता है कि वह नैतिक है या नहीं। यदि कोई आदमी केवल प्रामाणिक व्यवहार करता है पर चार कसौटियों पर खरा नहीं उतरता तो मानना होगा कि वह पूरा नैतिक नहीं है। नैतिक होने के लिए, इन पांचों की समन्विति अत्यन्त आवश्यक है। नैतिक चेतना को अनेक कोणों से देखना होगा। एक कोण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नैतिक चेतना जाग गई। जिसमें पांचों कोण जाग जाते हैं, उसमें नैतिक चेतना का जागरण होता है। जब पांचों कोण समन्वित होते हैं, तब पूरा चित्र बनता है। जब ये पांचों रेखाएं उभरती हैं तब नैतिक व्यक्तित्व का चित्र अंकित होता है। जिसमें नैतिक चेतना जाग गई, वह ऐसे व्यक्तित्व का स्वामी होगा कि वह प्रामाणिक व्यवहार करेगा, मृदु व्यवहार करेगा, निश्छल व्यवहार करेगा, निष्पक्ष व्यवहार करेगा और विनम्र व्यवहार करेगा। जब ये पांचों व्यवहार समन्वित रूप से हमारे सामने आते हैं तब नैतिक चेतना की जागृति प्रत्यक्ष होती है।

आज नैतिकता की अधिक चर्चा कानूनों के क्षेत्र में होती है। जो इन्कमटैक्स पूरा नहीं चुकाता, वह अनैतिक है। जो कानूनों का पूरा पालन नहीं करता वह अनैतिक है। यदि सारी नैतिकता को कानून के साथ बांध दिया जाए तो फिर चेतना समाप्त हो जाती है। फिर चेतना के विकास का कोई अवकाश ही नहीं रहता। नैतिकता ढूंढी जाएगी इन न्यायाधीशों, अदालतों और वकीलों के कटघरों में। बस, वे लोग जो निर्णय देंगे जिन्हें सही ठहराएंगे, वे नैतिक और जिनको गलत ठहरा देंगे, वे अनैतिक। बहुत बार ऐसा होता कि न्यायाधीश नैतिक व्यक्ति को अनैतिक मान सकता है, ठहरा सकता है। एक वकील अनैतिकता के तर्कों के आधार पर नैतिकता के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। कानून कानून है। उसकी अपनी परिभाषाएं हैं, सीमाएं हैं। वहां नैतिकता कैसे जुड़ सकती है, नैतिक चेतना का सम्बन्ध कैसे जुड़ सकता है? यद्यपि कानून की पृष्ठभूमि

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नैतिकता है पर जहां केवल कानून की बात है, केवल साक्षी की बात है वहां नैतिकता क्या कर सकती है? वहां केवल गवाही चाहिए। प्रत्यक्ष दर्शन भी वहां बेकार है। आंखों देखी घटना का भी वहां बहुत मूल्य नहीं होता। आंखों से देखा जितना महत्त्वपूर्ण नहीं है, उतना महत्त्वपूर्ण है साक्ष्य। साक्ष्य चाहे झूठा ही खड़ा क्यों न किया गया हो, उसका महत्त्व हो जाता है। वहां साक्ष्य परोक्ष होता है, परोक्ष ही सारा भरोसा होता है तो उसे नैतिक चेतना के साथ जोड़ने में कठिनाई होती है। नैतिक चेतना प्रत्यक्ष का संवेदन है, अपना संवेदन है। नैतिक चेतना उस व्यक्ति में जागती है जिसमें संवेदनशीलता जाग जाती है। नैतिकता का आधार बनता है—संवेदनशीलता। नैतिकता की पृष्ठभूमि में होता है विश्वास और परिणाम में होती है—संवेदनशीलता। जब संवेदनशीलता जाग जाती है तब व्यक्ति अनैतिक नहीं रह सकता।

आज सबसे बड़ा कार्य यह है कि हम विद्यार्थियों में संवेदनशीलता जगाएं। जब संवेदनशीलता जाग जाती है तब व्यक्ति दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट समझने लग जाता है और इस स्थिति में वह अनैतिक नहीं रह सकता। धार्मिक आदमी में यदि संवेदनशीलता न हो तो मानना चाहिए कि वह सही अर्थ में धार्मिक नहीं बना है। जब व्यक्ति में धार्मिक दृष्टि जागती है तब उसमें यह लक्षण प्रकट होते हैं—मन की शांति, वैराग्य, अनासक्ति, संवेदनशीलता, अनुकंपा-करुणा। जब करुणा जागती है, संवेदनशीलता जागती है तब दूसरे का सुख-दुःख स्वयं का सुख-दुःख जैसा प्रतीत होता है। यही है नैतिक चेतना।

संवेदनशीलता का अभाव ही अनैतिकता का कारण है। जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, दूसरे के कष्ट को कष्ट नहीं मानता, दूसरे को रजकण जैसा तुच्छ मानता है, तब अनैतिकता की बात चलती है।

प्रेक्षाध्यान नैतिक चेतना के जागरण की प्रक्रिया है। जब हम श्वास, प्राणविद्युत विभिन्न रसायनों तथा अन्यान्य प्रकंपनों को देखने में निपुण हो जाते हैं तब सामने वाले व्यक्ति की प्राणधारा का अनुभव करने में हमें सफलता मिल सकती है। जो व्यक्ति प्रेक्षा का अभ्यास करेगा, वह अपनी संवेदनशीलता को अवश्य ही जगा लेगा। वह निश्चित ही दूसरे व्यक्ति को देखने में सक्षम हो जाएगा। जो गहराइयों में उतरकर अपने आपको देखने लग जाता है, वह संवेदनशीलता से ओत-प्रोत हो जाता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अध्यात्म चेतना

हमारे दो जगत हैं। एक है बाहर का जगत और दूसरा है भीतर का जगत। जब तक भीतर में प्रवेश नहीं होता तब तक केवल बाहर को संवारने की बात ही समाने रहती है। जब आदमी भीतर चला जाता है तब उसके सामने नया आयाम उपस्थित होता है, नई दिशा उद्घाटित होती है और अनुभव का क्षेत्र बहुत व्यापक बन जाता है। अभी हमारा अनुभव केवल पदार्थ तक ही सीमित है। आध्यात्मिक चेतना के जागे बिना हमारे सामने एक ही विषय, एक ही वस्तु रहती है। वह है पदार्थ, पदार्थ और पदार्थ। पदार्थ के अतिरिक्त कोई बात सामने नहीं होती। हमारी दृष्टि केवल पदार्थ की दृष्टि बन जाती है। तब ऐसा अनुभव होने लगता है कि पदार्थ के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अपदार्थ नाम का कोई तत्त्व है ही नहीं।

आज के वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे कणों की खोज की है, जो अपदार्थ हैं। उन्होंने पदार्थ के जो लक्षण निश्चित किये हैं, उनमें ये लक्षण नहीं मिलते। वे कण पदार्थ-विरोधी कण हैं। उनमें पदार्थ के लक्षण घटित नहीं होते। वे प्रतिकण कहलाते हैं।

प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने, दार्शनिकों ने एक ऐसा तत्त्व खोजा, जो पदार्थ नहीं था, वस्तु नहीं था। उन्होंने उसका नाम रखा—आत्मा, चेतन। यह पदार्थ से विपरित अपदार्थ था। पदार्थ अचेतन है। जो अपदार्थ है वह चेतन है, आत्मा है। इस प्रकार तत्त्व के दो प्रकार हो गए—एक चेतन और दूसरा अचेतन।

पदार्थ या पुद्गल हमारा विषय बनता है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—इन सबको हम जानते हैं। इनको जानने का साधन है—इन्द्रियां। वे हमारे पास हैं। हम इनको विषय बना लेते हैं। आत्मा हमारा विषय नहीं बनता क्योंकि उसे जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि आत्मा को नहीं जान सकती। इसलिए आत्मा हमारा विषय नहीं बनती और वह विषय इसलिए नहीं बनती कि उसके बारे में हमें कोई अनुभव नहीं है, ज्ञान नहीं है।

कुछ व्यक्ति आत्मा के विषय में बहुत बोलते हैं। क्या हमारे पास कोई साधन है, जिससे हम आत्मा को ज्ञान का विषय बना सकें? आत्मा ज्ञेय बन सके, ऐसा कौन सा साधन है हमारे पास? जिस आत्मा को हम केवल मान

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

रहे हैं, उसे जानने का उपाय क्या है? मानने में कुछ करना नहीं होता, जानने में साक्षात्कार करना होता है। मानी बात कही जा सकती है, पर उसमें साक्षात्कार नहीं होता, अनुभव नहीं होता। जानने में साक्षात्कार जरूरी है।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग मानने मात्र का प्रयोग नहीं है, यह जानने का प्रयोग है। हम अपनी दृष्टि को प्रयोग और अभ्यास द्वारा इतना सूक्ष्म बना सकते हैं कि आज तक जो तत्त्व माना जा रहा है, वह जाना जा सकता है। जब तक दृष्टि स्थूल बनी रहती है तब तक हर बात मानी जा सकती है पर जब दृष्टि सूक्ष्म बन जाती है तब मानी हुई बात जान ली जाती है। दर्शन की शक्ति जैसे-जैसे विकसित होती है, वैसे-वैसे जानने की शक्ति का विकास होता है। इसी प्रक्रिया में आत्मा की बात स्पष्ट हो जाती है।

यहां से फिर एक प्रस्थान शुरू होता है भिन्न दिशा में। सामाजिक चेतना के संदर्भ में मैंने कहा था 'मैं अकेला नहीं हूं' और जब आध्यात्मिक चेतना के संदर्भ में मुझे कहना होगा 'अकेला हूं'। दोनों भिन्न हैं, पर अध्यात्म में यही सूत्र बन सकता है।

जब अनित्य अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा और अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग होता है, तब धारणा स्पष्ट बन जाती है कि 'मैं अकेला हूं।' जितने पदार्थ मेरे साथ जुड़े हुए हैं, वे मात्र संयोग हैं। संयोग और वियोग होता रहता है। पदार्थों की युति मात्र संयोग है।

मूर्च्छा जब सघन होती है तब सामने पड़ी हुई सचाई भी ज्ञात नहीं होती। आंखें चुंधियां जाती हैं। सचमुच आज यही हो रहा है। हर व्यक्ति अपनी आंखों पर भरोसा करता है, पर वास्तव में आंखें कितना धोखा देती हैं, यह भी प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। मोह के कारण ही व्यक्ति सचाई को नकारता जा रहा है। मूर्च्छा की सघनता में यथार्थ का पता ही नहीं चलता। उस स्थिति में व्यक्ति कठिनाइयों को झेल सकता है, दुविधाओं में जी सकता है पर सचाई को स्वीकार करने में हिचकिचाता है। आध्यात्मिक चेतना के अभाव में मूर्च्छा सघन बन जाती है। कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसमें आध्यात्मिक चेतना न जागी हो और मूर्च्छा सघन न हुई हो?

सामाजिक चेतना और नैतिक चेतना तब तक नहीं जागती जब तक आध्यात्मिक चेतना का जागरण नहीं होता। वास्तव में यह बहुत बड़ी सचाई है, इसे मुक्तभाव से हमें स्वीकार करना चाहिए।

समाजवादी या साम्यवादी प्रणाली के द्वारा जिन लोगों ने सामाजिक चेतना को जगाने और वैयक्तिक चेतना को समाप्त करने का प्रयत्न किया,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसका परिणाम यह आया कि, बहुविध नियंत्रणों, दंड विधानों और कानूनों के उपरान्त भी वैयक्तिक चेतना कम नहीं हुई किन्तु स्वार्थ और अधिक घना होता गया। एक बात है, सामाजिक चेतना के जागरण की समर्थक प्रणालियों में आर्थिक विकास उतना नहीं हुआ जितना वैयक्तिक चेतना वाले विकास कर पाये हैं। सहकारी समितियां तथा सहकारी भंडारों की सारी स्थितियां हमारे सामने हैं। उनमें एक व्यक्ति सोचता है कि वह करेगा और दूसरा सोचता है कि वह करेगा। यह वैयक्तिक चेतना का परिणाम है। स्वार्थ चेतना और वैयक्तिक चेतना तभी समाप्त हो सकती है जब अध्यात्म की चेतना जाग जाती है। आध्यात्मिक चेतना के जाग जाने पर व्यक्ति यह नहीं सोचता कि मैं क्यों करूं? वह प्रत्येक कार्य अपना धर्म मानकर करता है। उसमें कर्त्तव्य भी नीचे रह जाता है।

दो प्रेरणाएं हैं—कर्त्तव्य की प्रेरणा और धर्म की प्रेरणा। सामाजिक चेतना के जागरण में कर्त्तव्य की प्रेरणा मुख्य होती है और आध्यात्मिक चेतना के जारगण में धर्म की प्रेरणा मुख्य होती है। एक व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जागृत है। उसको किसी ने गाली दी। वह गाली को सहता है, इसीलिए कि सहना उसका धर्म है। वह मानता है—सहना मेरा धर्म है। आध्यात्मिक चेतना के जाग जाने पर सारा दृष्टिकोण बदल जाता है। उसमें प्रतिशोध की चेतना ही खत्म हो जाती है। कोई पीटता है, मारता है, तो वह यह सोचता है कि इसने इतना ही तो किया। इस प्रकार वह उसको सह लेता है। सारा चिंतन, विचार, दृष्टिकोण बदल जाता है।

नैतिक चेतना का विकास समाज और व्यवहार के क्षेत्र में जरूरी होता है किन्तु आध्यात्मिक चेतना के जागे बिना नैतिक चेतना नहीं जागती। वहां फिर प्रवंचनाएं शुरू हो जाती हैं। आध्यात्मिक चेतना के जागे बिना आदमी प्रामाणिक रहना चाहता है, निश्छल व्यवहार करना चाहता है, पर वैसा कर नहीं सकता। एकाध बार कर भी लेता है तो भी वह स्थिर नहीं रह पाता। वह प्रवंचना करता है, गालियां निकालता है और प्रसन्न हो जाता है। 183

एक व्यक्ति मृतकार्य सम्पन्न करने के लिए एक तीर्थ-स्थान पर गया। वहां के पंडों ने उसे आलू न खाने के लिए कहा। उसने आलू न खाने की प्रतिज्ञा कर ली। आध्यात्मिक चेतना से प्रतिज्ञा नहीं की थी। दबाव या उपदेश के प्रभाव में आकर प्रतिज्ञा की थी। वह घर आया। उस दिन घर पर मेहमान भी आए हुए थे। आलू की सब्जी बनी थी। मेहमान जानते थे कि इसने आलू न खाने की प्रतिज्ञा की है। थाली में आलू परोसे गए। एक आलू लुढ़ककर उसकी ओर आ गया। उसने तत्काल उसे खा लिया। लोगों ने कहा—अरे, आलू

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

खा रहे हो। वह बोला—आलू नहीं खा रहा हूं। मैं तो 'लुढ़क्न' खा रहा हूं।

यह है प्रवंचना, छलना। आध्यात्मिक चेतना के अभाव में यह सब होता है। आध्यात्मिक चेतना के जाग जाने पर न सामाजिक चेतना के विकास की कठिनाई रहती है और न नैतिक चेतना के विकास की कठिनाई रहती है। सारी चेतनाएं जाग जाती हैं।

आध्यात्मिक चेतना के शुद्ध अनुभव का सूत्र है—'मैं अकेला हूं।' अपने अकेलेपन का अनुभव करना उसका लक्ष्य है। व्यवहार की भाषा में 'मैं अकेला हूं' ऐसा नहीं कहा जा सकता। मेरी मां, मेरे भाई, सगे-सम्बन्धी, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरा गांव, मेरा राष्ट्र—न जाने सम्बन्धों की श्रृंखला कितनी व्यापक बन जाती है। न जाने आदमी कहां-कहां से जुड़ा हुआ है। वह सैकड़ों-सैकड़ों धागों से बंधा हुआ है। वह उन धागों से इतना जकड़ा हुआ है कि समाज और व्यवहार के क्षेत्र में उसे कहीं भी अकेलेपन का अनुभव नहीं होता। किन्तु जब आध्यात्मिक चेतना जागती है तो सारे सम्बन्ध विसम्बन्ध हो जाते हैं, टूट जाते हैं और उसे लगता है—मैं अकेला हूं। दूसरा मेरा कोई नहीं है। न मैं किसी का हूं और न मेरा कोई है।

यह बात अटपटी अवश्य लग सकती है। समाज के परिप्रेक्ष्य में यह कैसे माना जाए कि मैं अकेला हूं। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाए तो घर में क्या होगा? न कोई रोटी परोसने वाली मिलेगी, न पानी पिलाने वाला मिलेगा और न कोई सेवा-चाकरी करने वाला मिलेगा। न कोई देने वाला मिलेगा और न कोई लेने वाला मिलेगा।

तब एक प्रश्न आता है कि फिर क्या किया जाए? क्या अध्यात्म चेतना जगाएं या उसे वैसे ही रहने दें? जगाने पर घर की, समाज की समस्याएं हैं और न जगाने पर भी अनेक समस्याएं हैं। पर, एक बात बहुत स्पष्ट है कि अध्यात्म चेतना के जागे बिना सामाजिक चेतना और नैतिक चेतना नहीं जाग सकती। फिर तो आदमी जिस चक्की में पीसा जा रहा है उसी में पिसता रहेगा। स्वार्थ बढ़ेगा और वह आदमी पर अनुशासन करता चला जाएगा। आज के सम्बन्धों की धुरी है स्वार्थ। स्वार्थ ही सब कुछ है। वह होता है तो सब कुछ होता है और वह नहीं होता है तो कुछ भी नहीं होता।

आध्यात्मिक चेतना को जगाए बिना स्वार्थ पर अनुशासन नहीं किया जा सकता, अनैतिकता के चक्रव्यूह को नहीं तोड़ा जा सकता। धोखा देना, ठगना, प्रवंचना करना, तिरस्कृत करना, गला काटना, सताना, क्रूर व्यवहार करना, उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करना—यह सारा चलता रहेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आध्यात्मिक चेतना को नहीं जगाते हैं तो दोनों प्रकार की समस्याएं सताती हैं और यदि जागृत कर देते हैं तो अनुभव होता है—बाहरी दुनिया के सारे व्यवहार कृत्रिम हैं, नाटक जैसे हैं।

आज़ अनेक प्रकार के समाधान खोजे जा रहे हैं, परिस्थितियों और व्यवस्थाओं को बदलने के प्रयत्न किए जा रहे हैं, किन्तु सारे के सारे प्रयत्न अकृतार्थ हो रहे हैं। कोई प्रयत्न कृतार्थ नहीं हो रहा है। जैसे-जैसे दवा दी जा रही है, मर्ज बढ़ता जा रहा है, बीमारी असाध्य होती जा रही है। इस बिन्दु पर पहुंचकर आदमी को विवश होकर सोचना पड़ता है कि समस्या का कोई नया समाधान खोजना चाहिए, जिससे बीमारी बढ़े नहीं, वह अचिकित्स्य न बने। वह समाधान है आध्यात्मिक चेतना का जागरण, अकेलेपन की अनुभूति। जिस व्यक्ति ने अकेलेपन का अनुभव किया, उसने सैकड़ों कष्टों से मुक्ति पा ली। पति-पत्नी में वैमनस्य, पिता-पुत्र में वैमनस्य, भाई-भाई में वैमनस्य, स्वामी-सेवक में वैमनस्य, गुरु-शिष्य में वैमनस्य तब होता है जब अकेलेपन का अनुभव नहीं होता। पत्नी ने यह मान लिया कि पति और मैं भिन्न नहीं हूं। पिता ने मान लिया कि पुत्र और मैं भिन्न नहीं हूं। किन्तु जब एक-दूसरे के स्वार्थ टकराते हैं तब पति पत्नी को छोड़ देता है, पुत्र पिता से अलग हो जाता है। वह सोचता है—अरे, यह कैसे हो गया? मैंने इन्हें अभिन्न मान रखा था, फिर उन्होंने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया? इस स्थिति में आदमी इतना टूट जाता है कि उसे कोई संभाल नहीं सकता। पति मर जाता है या पत्नी की मृत्यु हो जाती है। पिता का देहान्त हो जाता या पुत्र की मृत्यु हो जाती है। कहीं-कहीं इस स्थिति में पति या पत्नी पागल हो जाते हैं, पिता-पुत्र पागल हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है, इसलिए कि हमने जानबूझकर यह स्थिति पैदा की है, व्यवहार के धरातल पर सत्य की हत्या की है। यदि हम सत्य को स्वीकार करते चलते कि मृत्यु अवश्यंभावी है। आज या कल सबको मरना है। यह जीवन की अनिवार्यता है। जीवन शाश्वत नहीं होता। संयोग कभी शाश्वत नहीं होता। संयोग का क्षण वियोग से जुड़ा रहता है। इस शाश्वत सत्य को अस्वीकार करने का परिणाम है—टूटना, दुःख पाना, मूर्च्छा को और सघन करना। यदि हम दोनों सचाइयों को सामने रखकर चलें कि संयोग और सम्बन्ध भी एक सीमा में यथार्थ हैं और वियोग तथा अकेलापन भी एक सचाई है तो समस्या उलझती नहीं। संयोग और सम्बन्ध—यह व्यावहारिक धरातल की सचाई है परन्तु मूर्च्छा इस सचाई को समझने नहीं देती।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सत्य को समझने में सबसे बड़ी बाधा है मूर्च्छा, प्रमाद, अजागरण। इसलिए हम प्रेक्षा करना सीखें, प्रेक्षा का बहुत बड़ा परिणाम है—मूर्च्छा का टूटना। जब व्यक्ति अकेलेपन का अनुभव करने लगता है, तब सचमुच मूर्च्छा पर चोट होती है। जब प्रेक्षाध्यान का अभ्यासी ज्योतिकेन्द्र पर इस एकत्व अनुप्रेक्षा का अनुचिंतन और अनुभव करता है और यह अनुभव गहरा होता चला जाता है, तब यह सचाई प्रत्यक्ष हो जाती है कि 'मैं अकेला हूं।'

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणलक्खणा।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।

इस परिप्रेक्ष्य में एक प्रश्न उभरकर आता है कि क्या इस चिंतन से सारे पारिवारिक सम्बन्ध टूट नहीं जायेंगे? हम एकांगी दृष्टिकोण से विचार न करें। जीवन-यात्रा को चलाने के लिए व्यवहार की भूमिका पर रहना जरूरी है और इस भूमिका पर आदमी अपने आपको हजारों-हजारों धागों से बंधा अनुभव करे और अध्यात्म की भूमिका पर उन धागों से मुक्त अनुभव करे। दोनों स्थितियां साथ-साथ चलें। दोनों का सामंजस्य हो। व्यवहार की दृष्टि भी चले और निश्चय की दृष्टि, प्रेक्षा की दृष्टि भी चले। जो सामाजिक जीवन जीता है उसे इन धागों से बंधा रहना पड़ता है किन्तु केवल इसी में रह जाए और आध्यात्मिक चेतना को न जगा पाए तो मूर्च्छा इतनी सघन हो जाती है और वे धागे मजबूत रस्से बन जाते हैं, फिर उनसे छूटना सरल नहीं होता।

प्रेक्षा के द्वारा हम अपनी चेतना को जगाएं और अपने आप में यह अनुभव करें—'मैं अकेला हूं', 'मैं चेतन हूं।' 'यह शरीर अचेतन है। इसमें होने वाले विद्युत प्रकंपन, जैविक रसायन, रक्त का अभिसरण—ये सारे अचेतन हैं। मैं चेतन हूं। इसीलिए शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूं।' जब ये तीन सचाइयां अनुभव के स्तर पर समझ में आ जाती हैं, तब अध्यात्म चेतना का जागरण घटित होता है।

प्रेक्षा का प्रयोग केवल सुनने का प्रयोग नहीं है, करने का प्रयोग है। बातें सुनने में अच्छी लग सकती हैं, पर उनसे होगा क्या? एक बार मस्तिष्क कुछ झंकृत होता है और जब दूसरी बात सामने आती है तब वह झंकार समाप्त हो जाता है और दूसरी बात की झंकृति प्रारंभ हो जाती है। जब हम केवल सुनते ही नहीं, प्रयोग करते हैं, तब वह तथ्य गहरे में अवचेतन मन तक पहुंच जाता है, वह स्थायी बन जाता है।

हम प्रयोग और अभ्यास में विश्वास करें। एक बार नहीं, हजार बार उसे दोहराएं। असम्भव सम्भव लगने लगेगा। जो प्रयोग करता है, अभ्यास से गुजरता है, उसको अवश्य अनुभव होता है। जो बात अनुभव के स्तर पर आती है, वह स्थायी और शाश्वत उपयोगी बन जाती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जीवन विद्या

इस दुनिया में दो तत्त्व बहुत स्पष्ट हैं। एक है चेतन और दूसरा है अचेतन। अचेतन में न ज्ञान होता है और न जीवन होता है। चेतन में ज्ञान भी है और जीवन भी। हम चेतना के साथ जीते हैं, शरीर के साथ जीते हैं। शरीर और चेतना के मध्य भाग का नाम है—प्राणशक्ति, 'वाइटल फोर्स' 'वाइटल एनर्जी'। यह एक संबंध सेतु है। यह प्राणशक्ति ही जीवन है, जीवनी शक्ति है। उस प्राणशक्ति के आधार पर हम श्वास लेते हैं, चलते हैं, बोलते हैं, आहार करते हैं, चिन्तन और मनन करते हैं। हमारी सारी प्रवृत्तियां प्राणशक्ति के आधार पर होती हैं। वही हमारा जीवन है। हम जीवित प्राणी हैं, जी रहे हैं। हम शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि का प्रयोग करते हैं। जीवन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। जीवन का विकास एक विशेष प्रक्रिया है। प्रत्येक प्राणी जो जीवन जीता है, वह विकास की भूमिका तक नहीं पहुंच पाता। विकास के लिए चेतना के विशेष आयाम उद्घाटित होने चाहिए। जब तक चेतना के विशेष आयाम उद्घाटित नहीं होते, तब तक जीवन जीवन रहता है, वह विकासशील नहीं बनता। विकास करने के लिए मनुष्य को ही विशेष सुविधा प्राप्त है। उसका नाड़ी संस्थान, ग्रंथि-संस्थान और मस्तिष्क—ये तीनों बहुत विकसित हैं। उनमें अनेक संभावनाएं छुपी हुई हैं। मनुष्य उन संभावनाओं का उपयोग कर विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुंच सकता है। विकास का आधारभूत तत्त्व है—प्रज्ञा। बुद्धि से आगे होती है प्रज्ञा। इसे अन्तर्दृष्टि और अन्तःप्रेरणा भी कहा जा सकता है। यही विकास का मूल आधार है। मनुष्य और पशु में एक अन्तर है मानसिक विकास का और दूसरा अन्तर है भावनात्मक विकास का। पशु में शारीरिक शक्ति होती है पर उसमें मानसिक विकास उतना नहीं है जितना मनुष्य में है। उसमें कल्पना शक्ति नहीं होती। मनुष्य में कल्पनाशक्ति होती है। पशु कभी कल्पना नहीं कर सकता कि उसे सूक्ष्म शक्तियों का विकास करना है। वह ऐसा सोच ही नहीं सकता। वह हजारों वर्षों से भार ढोता रहा है और आज भी ढो रहा है। बैल हजारों वर्षों से गाड़ी से जुता चल रहा है और आज भी वही काम कर रहा है। वह कभी नहीं सोचता कि इससे आगे भी विकास करना है। उसमें कल्पना-शक्ति का अभाव है। यही विकास की सबसे बड़ी बाधा है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मनुष्य में प्रज्ञा है, कल्पनाशक्ति है। वह सोचता है कि मुझे आगे बढ़ना है, कुछ करना है, कुछ होना है। मनुष्य ने कल्पना की और वह आकाश में उड़ने लगा, आकाशयात्री बन गया। उसने कल्पना की और वह जलयात्री बन गया। उसने द्रुतगामी वाहनों का निर्माण किया। यह सारा कल्पनाशक्ति का ही चमत्कार है, मानसिक विकास का द्योतक है।

मनुष्य में अनंत संभावनाएं हैं। उनका अधिकतम उपयोग कैसे हो? उसकी सूक्ष्म शक्तियां कैसे जागे? यह एक प्रश्न है। संभावनाओं का उपयोग और शक्तियों का जागरण अवचेतना के अधीन है। जीवन जीना एक बात है और जीवन को विकासशील बनाना, उससे भिन्न बात है। हम मनुष्य हैं, इसलिए केवल जीवन जीना ही नहीं चाहते, केवल प्राण धारण करना या केवल श्वास लेना ही नहीं चाहते, हम कुछ और चाहते हैं। हम कुछ होना चाहते हैं, बनना चाहते हैं। कुछ बनने का आधारभूत तत्त्व है—धर्म। धर्म जीवन का विकास सूत्र है। कवि ने कहा है—

यस्य धर्मविहीनानि, दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभ्रस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति।।

जो व्यक्ति धर्मशून्य जीवन जीता है, उसका जीवन जीना नहीं है। वह श्वास लेता है पर उसका कोई मूल्य नहीं। लुहार की धौंकनी भी श्वास लेती है पर उसका एक सीमित या तुल्छ मूल्य है। उसी प्रकार धर्मशून्य मनुष्य का श्वास भी तुच्छ है।

आज एक नई कठिनाई पैदा हो गई है। आज के लोग धर्म और सम्प्रदाय या मजहब को एक मान बैठे हैं। लोग कह देते हैं, धर्म के कारण कितनी लड़ाइयां हो गईं। कितना रक्त बहा? कितने देश उजड़े? धर्म के कारण ऐसा कभी नहीं हुआ और न होगा। यह सब होता है सम्प्रदाय के कारण। धर्म और सम्प्रदाय इतने घुल मिल गए कि जो सम्प्रदाय के नाम पर घटित हुआ, वह सारा धर्म पर आरोपित हो गया। इसलिए धर्म को बदनाम होना पड़ा। यदि कोई आदमी धर्म तक पहुंच जाए तो वहां न लड़ाई है, न द्वेष है और न झंझट है। धर्म का अर्थ है, राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीना। जब कोई भी आदमी राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीएगा तो लड़ाइयां कहां उभरेंगी? लड़ाइयां धर्म के कारण नहीं, संप्रदाय के कारण हुई हैं, होती हैं। सम्प्रदाय के आवरण में बेचारा धर्म आवृत हो गया। इसीलिए आज धर्म की भाषा समझ में नहीं आ रही है। यह एक समस्या है।

इस समस्या को सुलझाने के लिए हमने एक प्रक्रिया प्रारम्भ की।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसमें धर्म शब्द का उपयोग नहीं किया। मैं मानता हूं कि धर्म शब्द बहुत ही मूल्यवान है। उसका अर्थ गम्भीर है किन्तु परिस्थितिवश उसका अर्थ बदल गया। भाषाशास्त्र के अनुसार शब्दों के अर्थ का उत्क्रमण और अपक्रमण होता है। अर्थ का ह्रास और विकास होता है। आज एक दृष्टि से धर्म शब्द संप्रदाय का द्योतक बन गया। उसका अर्थ भी कुछ बदल गया। इसलिए नए शब्द के चुनाव की अपेक्षा हुई। हमने सोचा कि जीवन विकास के लिए कोई ऐसा शब्द चुना जाए, जो धर्म की मूल भावनाओं का स्पर्श करने वाला हो। जीवन में धर्म का विकास, अध्यात्म का विकास और नैतिकता का विकास करने वाला वह शब्द हो। ये शब्द आज विवाद के विषय बन गए हैं, इसलिए नए शब्द ढूंढना चाहिए जो आज के मानस का स्पर्श कर सके, पर कोई प्रतिक्रिया पैदा न करे। इन दृष्टियों से सोचने का एक शब्द जंचा और वह है—'जीवन-विज्ञान'। इसकी प्रक्रिया का किसी धर्म-विशेष या संप्रदाय-विशेष से संबंध नहीं है। इसका सीधा संबंध है जीवन से। प्रत्येक प्राणी को जीवन-विज्ञान का अनुभव होना चाहिए। जीवन के साथ विज्ञान शब्द इसलिए जुड़ता है कि जीवन के अपने नियम हैं। प्रत्येक वस्तु के साथ नियम जुड़े हुए हैं। कुछ हमें ज्ञात हैं, कुछ अज्ञात है। सारे नियम हम नहीं जानते। अनेक नियम अज्ञात ही रह जाते हैं। जैसे-जैसे विकास हो रहा है, अज्ञात नियम ज्ञात होते जा रहे हैं। मनुष्य इन ज्ञात नियमों का उपयोग करता है। किन्तु जो ज्ञात हुआ है, वह एक बिन्दु मात्र है, अज्ञात का समुद्र अभी भी अछूता ही पड़ा है। ज्ञात अल्प है, अज्ञात अनन्त है। हमारे जीवन के भी अनन्त नियम हैं। जीवन विकास के अनगिनत नियम हैं। हम बहुत थोड़े नियमों को जानते हैं और जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, जानने की सीमा भी आगे बढ़ती जाती है। हम जीवन के नियमों को जान सकें, उनका उपयोग कर सकें और सफलता की दिशा में जीवन को आगे बढ़ा सकें—यह है जीवन-विज्ञान का उद्देश्य।

जीवन-विज्ञान का एक अर्थ है—जीवन के नियमों की खोज। उन नियमों की खोज, जिनके द्वारा दृष्टिकोण का परिष्कार किया जा सकता है, व्यवहार और आचरण का रूपान्तरण किया जा सकता है।

जीवन के तीन मुख्य पक्ष हैं—ज्ञानात्मक पक्ष, भावनात्मक पक्ष और क्रियात्मक पक्ष। हम जानते हैं, यह हमारा ज्ञानात्मक पक्ष है। हम भावना से जुड़े हुए हैं, यह हमारा भावनात्मक पक्ष है। हम आचरण करते हैं, यह हमारा क्रियात्मक पक्ष है। हमारा प्रयत्न रहता है कि ये तीनों पक्ष परिष्कृत हों। जीवन की सारी समस्याएं अपरिष्कृत दृष्टिकोण, चिंतन और आचरण से पैदा होती हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

समस्या का एक कारण है अपरिष्कृत दृष्टिकोण। यह मिथ्या दृष्टिकोण का वाचक है। आज दृष्टिकोण सम्यक नहीं है। आदमी ने अनेक एकांगी दृष्टिकोण पाल रखे हैं। जब दृष्टिकोण एकांगी होते हैं तब मिथ्या धारणाओं और भ्रांतियों को पलने में सुविधा हो जाती है। प्रश्न है—क्या दृष्टिकोण और आचरण का परिष्कार किया जा सकता है? क्या इनमें परिवर्तन घटित किया जा सकता है? एक धारणा यह है कि इनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु यह धारणा सही नहीं है। यदि परिवर्तन घटित न हो तो शिक्षा का कोई अर्थ ही नहीं होता, साधना का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आदमी के दृष्टिकोण में परिष्कार हो, भावना और आचरण में परिष्कार हो, यही साधना और शिक्षा का उद्देश्य है। यदि ऐसा न हो तो वे व्यर्थ हैं। यदि साधना करने वाला और साधना न करने वाला—दोनों का समान आचारण हो तो फिर साधना का अर्थ ही क्या रह जाता है? शिक्षा प्राप्त करने वाला भी वैसा ही और शिक्षा प्राप्त न करने वाला भी वैसा ही, तो फिर शिक्षा का प्रयोजन ही क्या रहा? दोनों में अन्तर होना चाहिए। साधना और शिक्षा के द्वारा जीवन बदलता है, परिष्कृत होता है। जीवन-विज्ञान इस परिष्कार-सूत्र की खोज है।

जीवन-विज्ञान का दूसरा अर्थ है—उन नियमों की खोज करना, जिनके द्वारा भावनात्मक विकास और बौद्धिक विकास में संतुलन स्थापित किया जा सके। आज दोनों में संतुलन नहीं है। शिक्षा जगत की भी यह बड़ी समस्या है और धार्मिक जगत की भी यही बड़ी समस्या है। आज की शिक्षा में बौद्धिक विकास का अनल्प अवकाश है। प्राचीनकाल में भारत में जिस विद्या की शाखाओं का अध्ययन कराया जाता था, वे थोड़ी थीं। आज उनका बहुत विस्तार हुआ है। किन्तु इन सारी शाखाओं को, प्राचीन भाषा में, अपरा विद्या कहा जा सकता है और आज की भाषा में बौद्धिक विकास को घटित करने वाली शाखाएं कहा जा सकता है। आज आदमी बौद्धिक विकास के शिखर को छू रहा है। अपने-अपने क्षेत्र के निपुण व्यक्ति तैयार होकर निकल रहे हैं। किन्तु खेद है कि जितना बौद्धिक विकास होता जा रहा है, उतना ही भावनात्मक विकास कमजोर होता जा रहा है। प्राचीन भाषा में जिसे 'पराविद्या' कहा गया है, आज उसे हम भावनात्मक विकास या 'इमोशन्स' पर कंट्रोल करने की पद्धति कह सकते हैं। पराविद्या की बात आज शून्य होती जा रही है। इसलिए शिक्षा जगत में जो समस्याएं हैं, जो प्रश्न हैं, वे अनुत्तरित हो रहे हैं। तर्क और बुद्धि के द्वारा अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया जा सकता है, जय-पराजय की बात सफल हो सकती है, पर अनुशासन आदि तत्त्वों की संपूर्ति नहीं हो सकती। तर्क समस्या को गहरा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बना डालता है, निर्णय तक नही पहुंचाता। तर्क के आधार पर अनेक तथ्य सिद्ध किए जा सकते हैं, किन्तु उससे सही समाधान नही मिल सकता।

बौद्धिक विकास की जो फलश्रुति मिलनी चाहिए, वह मिल रही है। आज का युग भौतिक उपलब्धियों से भरता जा रहा है। आज आर्थिक विकास हुआ है, सम्पन्नता बढ़ी है। किन्तु संघर्ष, कलह, अपराध और भ्रष्टाचार—इन सब पर नियंत्रण करना, इन समस्याओं से निपटना बुद्धि या तर्क का काम नही है। क्योंकि बौद्धिक और तार्किक व्यक्ति ही तो इनका जन्मदाता है। वह इन्हें बड़ी कुशलता से करता है। बुद्धि की एक भूमिका है। उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। किंतु वह अन्तिम भूमिका नही है। बौद्धिक व्यक्ति जितनी निपुणता से भ्रष्टाचार, संघर्ष और कलह कर सकता है, उतनी निपुणता से एक अबुद्धिमान व्यक्ति नही कर सकता। अपराध करने में भी बुद्धि और तर्क का योग है। प्रश्न आता है कि बुद्धि और तर्क का नियंत्रण कैसे किया जाए? शक्ति शक्ति होती है। उन पर नियंत्रण या अंकुश कैसे हो? यदि उस पर अंकुश न हो तो उसका उपयोग विपरीत दिशा में भी हो सकता है।

शक्ति का उपयोग विकास की दिशा में भी हो सकता है और ह्रास या अपराध की दिशा में भी हो सकता है। हमारा दृष्टिकोण रचनात्मक हो, ध्वंसात्मक नहीं। हमारा व्यवहार और आचरण रचनात्मक बने। इसलिए आवश्यक होता है नियंत्रण, अंकुश। बुद्धि को अनियंत्रित छोड़ना खतरे से खाली नही है। अनियंत्रित बुद्धि अनेक खतरे पैदा कर देती है। प्रश्न यही उभरता है कि अंकुश कौन बने? भावना अंकुश बन सकती है। भावना यदि नियंत्रित होती है तो बुद्धि अपने आप नियंत्रित हो जाती है। हमारा भावनात्मक विकास बुद्धि पर अंकुश रखने में सक्षम होता है इसलिए संतुलन अपेक्षित है। जैसे-जैसे बौद्धिक विकास हो, वैसे-वैसे साथ ही साथ समानांतर रेखा की भांति भावनात्मक विकास की रेखा भी आगे बढ़ती जाए। दोनों समानांतर चलें, कोई खतरा नही है। एक बुद्धि का ही यदि विकास होता है तो अनर्थ पैदा होने लग जाते हैं।

आज की शिक्षा जगत की समस्या को यदि एक शब्द में प्रस्तुत करना हो तो कहा जा सकता है कि बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास में संतुलन नही है। इसी समस्या के कारण शैक्षणिक संस्थानों में न अनुशासन का विकास है और न आत्मानुशासन का ही विकास दृष्टिगोचर होता है। यह सारा ग्रंथि-स्राव के असंतुलन के कारण हुआ है, होता है। यदि ग्रंथियों का स्राव संतुलित हो तो यह समस्या नही उभर सकती। आज जो हिंसा, अपराध, अनुशासनहीनता बढ़ रही है, यह आश्चर्य नही है। यदि ये न हों तो आश्चर्य हो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सकता है। हमारी चेतना वहीं काम कर रही है, जहां से ये अपराध उभरते हैं। मूल को पकड़ना होगा, जहां से समस्या पैदा होती है। भावनात्मक विकास हुए बिना चरित्र की समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सकता। क्रोध, लाभ, कपट, भय, द्वेष, घृणा, कामवासना—ये सारे भावनात्मक पक्ष हैं। जब तक इनका परिष्कार नहीं होगा तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। यदि इस परिष्कार के साथ ज्ञान आता है, बढ़ता है तो बहुत लाभदायी होता है। उसके बड़े-बड़े परिणाम प्राप्त होते हैं। यदि इस परिष्कार के बिना ज्ञान बढ़ता है तो वह अनर्थ ही पैदा करता है।

आज यह सद्यस्क अपेक्षा है कि व्यक्ति अपनी चेतना को इतना जागरूक और प्रशिक्षित करे कि वह परिष्कार को घटित करते हुए ज्ञानार्जन की दिशा में आगे बढ़े। वह समस्याओं के सामने घुटने न टेके, समस्याओं के चक्रव्यूह को भेदकर बाहर निकल जाए। यह सब परिष्कार की प्रक्रिया से ही संभव हो सकता है।

एक घुड़सवार कहीं जा रहा था। मार्ग में उसे पानी पीने की आवश्यकता महसूस हुई। एक रेहट पर वह रुका। स्वयं ने पानी पीया। घोड़े को पानी पिलाने लगा। घोड़ा रेहट की आवाज से चमकने लगा, पानी नहीं पीया। घुड़सवार ने रेहट के मालिक से कहा—'घोड़ा प्यासा है। इसे पानी पिलाना है। रेहट की आवाज को बन्द कर दो।' उसने रेहट चलाना बन्द कर दिया। आवाज बन्द हुई, साथ-साथ पानी निकलना भी रुक गया। घुड़सवार बोला—'भले आदमी! मैंने आवाज बन्द करने के लिए कहा था, पानी बन्द करने के लिए नहीं कहा था।' रेहट के मालिक ने कहा—'तुम नहीं जानते। आवाज होना और पानी निकलना--दोनों साथ-साथ होते हैं। आवाज रुकेगी तो पानी भी रुकेगा। आवाज होगी तो पानी भी आएगा। दोनों एक साथ होंगे, अलग-अलग नहीं।

हम पानी पीना चाहते हैं। तो अवाज को भी सहना होगा। हम समस्याओं को नहीं रोक सकते। यह कभी संभव नहीं कि सारी समस्याएं समाहित हो जाएं, समस्या रहे ही नहीं। जब सारी समस्याएं समाहित हो जाएंगी तो आदमी भी नहीं बचेगा। फिर आदमी रहेगा क्यों? कहां? समस्याएं और आदमी साथ-साथ चलते हैं, साथ-साथ जीते हैं। आदमी को रहना है तो समस्याओं को भी रहना है। दोनों साथ रहें, पर घोड़े में आवाज सहने की क्षमता पैदा कर दें, जिससे कि वह आवाज होने पर भी पानी पी सके। आदमी को इतना परिष्कृत बना दें कि वह समस्या के रहते हुए भी सुख से जी सके। यह

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तभी संभव है जब उसमें भावनात्मक विकास होता रहे।

जीवन विज्ञान का तीसरा अर्थ है—उन नियमों की खोज, जिनके द्वारा अचेतन मन को जगाया जा सके। प्राचीन साहित्य में स्थूल मन, स्थूल चित्त, सूक्ष्म चित्त या अन्तःकरण के भेद प्राप्त होते हैं। आज के मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किए हैं—अचेतन मन, अवचेतन मन, और चेतन मन। मनोविज्ञान की मान्यता है कि जागृत मन बहुत कम शक्ति-संपन्न है। अर्द्धमन या सूक्ष्म मन बहुत शक्तिशाली है। वासनाएं, धारणाएं, मान्यताएं, संस्कार और वृत्तियां जागृत मन में नहीं हैं। जागृत मन बेचारा नौकर है। इन सब वृत्तियों का मूल स्रोत है—अचेतन मन। वहीं से सब कुछ प्रवाहित होता है। यह जागृत मन तो बेचारा उस प्रवाह को अभिव्यक्ति देने वाला है, क्रियान्वित करने वाला है। आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि शिक्षा के द्वारा जागृत मन तो बहुत शक्ति-संपन्न होता जा रहा है और सूक्ष्म मन या अन्तःकरण कमजोर होता जा रहा है। जागृत मन पूरा काम कर रहा है पर सूक्ष्म मन सोया पड़ा है। उसे काम करने का अवसर ही नहीं मिल पा रहा है। आदमी में इतना तनाव है, इतना प्रमाद है कि सूक्ष्म मन को कार्य करने का मौका ही नहीं मिलता। जीवन विज्ञान की प्रक्रिया के आधार पर कुछ नियम खोजे गए हैं, जिनके आधार पर अन्तःकरण को, शुद्ध चेतना को, अचेतन मन को जगाया जा सकता है। न केवल जगाया जाता है, किंतु परिष्कार भी किया जा सकता है।

हमारे अचेतन मन में दो धारणाएं समानांतर चल रही हैं। एक है अन्धकार की धारा, कृष्ण पक्ष की धारा और दूसरी है प्रकाश की धारा, शुक्लपक्ष की धारा। यह नहीं कहा जा सकता कि अचेतन में सब अच्छा ही अच्छा है। उसमें अच्छा भी है, बुरा भी है। अमृत भी है, जहर भी है। उसको जगाने में खतरा भी है। यदि उसके भीतर की शक्तियां जाग जाती हैं तो वे अनेक खतरे भी पैदा कर सकती हैं। इसलिए दोनों बातें अपेक्षित हैं—जागरण और परिष्कार। उन शक्तियों को जगाना है और उनका परिष्कार भी करना है। यह निश्चित तथ्य है कि जब तक अचेतन मन जाग नहीं जाता तब तक विशेष कार्य नहीं किया जा सकता। बुद्धि के स्तर पर जो कार्य होते हैं, वे महत्त्वपूर्ण अवश्य होते हैं, पर आज बहुत सारी संभावनाएं जो प्रगट हुई हैं, वे बुद्धि के स्तर पर होने वाली घटनाएं नहीं हैं। वे सारी अचेतन मन या अन्तःकरण से संबंधित हैं। आइंस्टीन से पूछा गया—सापेक्षवाद के सिद्धांत की खोज कैसे की गई? उन्होंने कहा—मैं नहीं जानता। मैंने उसका कभी चिंतन ही नहीं किया था। अचानक यह बात मेरी प्रज्ञा में अवतरित हुई, अकस्मात विस्फोट हुआ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और सापेक्षवाद का अवतरण हो गया। कभी-कभी जो रहस्य चिंतन-मनन से उद्घाटित नहीं होते, वे अकस्मात अभिव्यक्त हो जाते हैं। स्वप्न में भी उनका अवतरण हो जाता है। स्वप्न में ऐसे अनेक फार्मूले, नियम ज्ञात हुए हैं, जो वर्षों के चिंतन और मनन के बाद नहीं हो पाए थे। इस प्रकार आकस्मिक ढंग से होने वाली रहस्योद्घाटनों का मूल स्रोत हमारे भीतर है, वह है हमारी प्रज्ञा। जो खोज बुद्धि से नहीं होती, वह अन्तःप्रेरणा से, प्रज्ञा से हो जाती है।

हमारे भीतर प्रज्ञा है। उसको कैसे जगाया जाए, यह सोचना है। उसको जगाने के जो सूत्र हैं, वे जीवन-विज्ञान के सूत्र हैं। हमारी प्रज्ञा तब जागती है, जब आलस्य, प्रमाद और मूर्च्छा का वलय टूटता है। वाल्मीकि एक क्षण में डाकू से ऋषि बन गया। यह बुद्धि या चिंतन के स्तर पर होने वाली घटना नहीं थी। उसकी प्रज्ञा जागी, अन्तःकरण में स्फुरणा जागी और वह डाकू से महर्षि बन गया। उसमें एक ही क्षण लगा, दो नहीं। यह द्रुत गति से होता है। यह द्रुतसंचरण है, छलांग है। यह छलांग चिंतन से परे प्रज्ञा की देन है। इसीलिए कभी-कभी आकस्मिक ढंग से अन-होना, होना हो जाता है। यह सब भीतर का क्षेप है। मूर्च्छा टूटती है तब अप्रमाद जागता है। जब अप्रमाद जागता है तब भय समाप्त हो जाता है। आज का प्रत्येक आदमी भयभीत है। बड़े से बड़ा व्यापारी भी भयमुक्त नहीं है। अध्यापक भी भयमुक्त नहीं है। वह भले ही दूसरों को भय की बात न कहे पर भीतर ही भीतर वह भयाक्रांत है कि कब, कैसे विद्यार्थी उसकी पिटाई कर दे। कब मिनिस्टर या अन्य शिक्षाधिकारी उस पर झूठे-सच्चे आरोप लगाकर निष्कासित कर दे। आज के वैज्ञानिक भयग्रस्त हैं। आबादी बढ़ रही है। वह दिन भी आ सकता है—जिस दिन आदमी को खाने के लिए अनाज नहीं मिल सकेगा। आबादी की यही रफ्तार रही तो वह दिन दूर नहीं है, जब आदमी को चलने के लिए रास्ता नहीं मिल पाएगा। उसे रहने को मकान और खाने को रोटी नहीं मिल पाएगी। वैज्ञानिक इन सारी समस्याओं से भयभीत हैं। वह जानता है—सौ वर्ष बाद कोयला और पेट्रोल समाप्त हो जाएंगे, ऊर्जा के सारे स्रोत समाप्त हो जाएंगे। उस समय विश्व की क्या स्थिति होगी? यह भय वैज्ञानिक को है, औरों को नहीं। वे इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। बुद्धि जितनी प्रखर, तेज होगी उतना भय बढ़ेगा। बुद्धि का काम भय को मिटाना नहीं है। उसका काम है नए-नए भयों को उत्पन्न करना। अभय आता है प्रज्ञा से। जब प्रज्ञा जागती है, तब आदमी 'तथाता' बन जाता है। 'तथाता' का अर्थ है वर्तमान में जीना, जो प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेना। घटना को घटना के रूप में स्वीकार कर लेना 'तथाता' है, उसके साथ भय को जोड़ना आवश्यक नहीं है। 'तथाता' आती है प्रज्ञा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

से। बाह्य विस्मृति और अन्तर् जागरण—यह है 'तथाता'।

हमारे समाने यह अहं प्रश्न है कि सूक्ष्म चेतना या प्रज्ञा के प्रवाह को शिक्षा जगत में कैसे प्रवाहित किया जाए? बुद्धि के साथ-साथ प्रज्ञा का विकास कैसे किया जाए? प्राचीनकाल में ये दोनों कार्य दो भिन्न-भिन्न सस्थाए करती थीं। बौद्धिक जागरण का कार्य विद्या-संस्थान करते थे और प्रज्ञा जागरण का कार्य धर्म-संस्थान। विद्या-संस्थान में कार्यरत गुरु धर्म-संस्थान का भी कार्य करते थे। वे चारित्र का शिक्षण भी देते थे, बुद्धि और प्रज्ञा—दोनों को जगाने का कार्य करते थे। आज दोनों संस्थाओं का स्वरूप ही बदल गया। फिर भी आज के विद्या-संस्थान बुद्धि के जागरण का पर्याप्त कार्य कर रहे हैं किंतु धर्म-संस्थान प्रज्ञा-जागरण की ओर क्रियाशील नहीं है। इसका एक कारण तो यह भी है कि आज के छात्रों का धर्म-संस्थान से संपर्क नही है। दूसरा कारण है कि धर्मगुरु भी अपने दायित्व के प्रति पूर्ण जागरूक नहीं हैं। छात्र के सिर पर आज अध्ययन का भार इतना है कि वह धर्म-संस्थान से संपर्क रखने में असहाय है और शिक्षा-संस्थानों में आज वातावरण भी ऐसा है कि धर्म के प्रति कोई उत्साह या प्रेरणा नहीं मिलती। आज धर्म संस्थानों का वातावरण भी प्रज्ञा को जगा सके, वैसा नही है। दोनों ओर से संभावनाएं समाप्त हो रही हैं। न तो विद्या-संस्थानों में ये संभावनाएं शेष हैं और न धर्म-संस्थानों में ही ये हैं। इसलिए मैं बहुधा सोचता हूं कि धर्म-संस्थानों का दायित्व भी विद्या-संस्थानों को ले लेना चाहिए। आज शिक्षा-संस्थानों में जो अध्यापक या प्राध्यापक हैं, वे विद्यार्थी को केवल बौद्धिक विकास का ही अवदान न दें, साथ-साथ प्रज्ञा के जागरण का अवदान भी दें। ऐसा हो सकता है और इसलिए हो सकता है कि अभी शिक्षा-संस्थान कोई समुदाय नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है, उसके पीछे धर्म-अधर्म की, जगत-सृष्टि की कोई ऐसी निश्चित मान्यताएं नहीं हैं।

जीवन-विज्ञान में इन दोनों संभावनाओं की स्वीकृति है। जहां बौद्धिक विकास के लिए, सैद्धांतिक और प्रायोगिक प्रयोग चलते हैं वहां जीवन विकास के लिए, चरित्र विकास के लिए विद्यार्थी को सैद्धांतिक और प्रायोगिक प्रयोगों से गुजारा जाए। बहुत अधिक समय लगाना आवश्यक नहीं है। प्रतिदिन केवल पचास मिनिट लगाना पर्याप्त होगा। इतना प्रयत्न यदि विद्यार्थी पर किया जाए और उसे समय-समय पर प्रयोग की ओर अभिमुख किया जाए तो अनेक समस्याएं समाहित हो सकती हैं।

बौद्धिक विकास के लिए बहुत लम्बे समय की अपेक्षा रहती है क्योंकि वह सब बाहर से गृहीत होता है। किंतु भावनात्मक विकास के लिए ज्यादा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

समय इसलिए अपेक्षित नहीं है कि वह भीतर से आता है। बौद्धिक ज्ञान बाहर से आता है, पुस्तकों और आंकड़ों से उसे लेना पड़ता है। भावनात्मक विकास में बाहर से कुछ लेना नहीं पड़ता, भीतर को जगाना पड़ता है, भीतर के रसायनों से परिवर्तन घटित करना होता है। इसलिए यह बहुत समय-साध्य या श्रम-साध्य अनुष्ठान नहीं है। यह सहज-सरल है। केवल अनुयोजन की आवश्यकता है।

मैंने जीवन-विज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन किया है और उसके दो-तीन नियमों की व्याख्या प्रस्तुत की है। जीवन-विज्ञान के प्रायोगिक पक्ष में प्रेक्षाध्यान और अनुप्रेक्षा का प्रयोग चलता है। पश्चिम में 'सजेस्टोलॉजी' का प्रयोग चलता है। यह अनुप्रेक्षा का ही प्रयोग है। यह प्रयोग स्वभाव परिवर्तन के लिए बहुत कारगर सिद्ध हुआ है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—स्वतः सूचना। यह सूचनात्मक पद्धति है। हम अभी अभय की अनुप्रेक्षा, मृदुता की अनुप्रेक्षा और सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा—इन तीन अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग कर रहे हैं। इनके द्वारा आंतरिक रसायनों, स्रावों पर नियंत्रण होता है। उनमें परिष्कार होता है और तब व्यक्तित्व रूपांतरित हो जाता है। इसमें प्रयोग पक्ष प्रबल होना चाहिए। सिद्धांत का इतना-सा ज्ञान हो कि उसकी मूल्यवत्ता ज्ञात हो जाए।

इसका प्रयोग विद्यार्थियों को कराया गया। कुछ दिनों के निरन्तर प्रयोग के पश्चात विद्यार्थियों ने कहा—'इस प्रयोग से हम लाभान्वित हुए हैं। इससे हमारी एकाग्रता बढ़ी है। पहले पढ़ने में मन नहीं लगता था। पढ़ने में उलझ जाते थे। अब पढ़ने में रस आता है। जब पढ़ते-पढ़ते मन और शरीर थक जाता है, तब दो-चार दीर्घश्वास लेते हैं या कुछ क्षणों तक कायोत्सर्ग कर लेते हैं, उससे ताजगी का अनुभव होता है।'

प्रयोग से जो लाभ होता है, वह केवल पाठ पढ़ने से नहीं होता। ध्यान और अनुप्रेक्षा का प्रयोग आवश्यक है और तभी हम अपनी आगामी पीढ़ी को सुसंस्कृत बना सकने में समर्थ हो सकते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

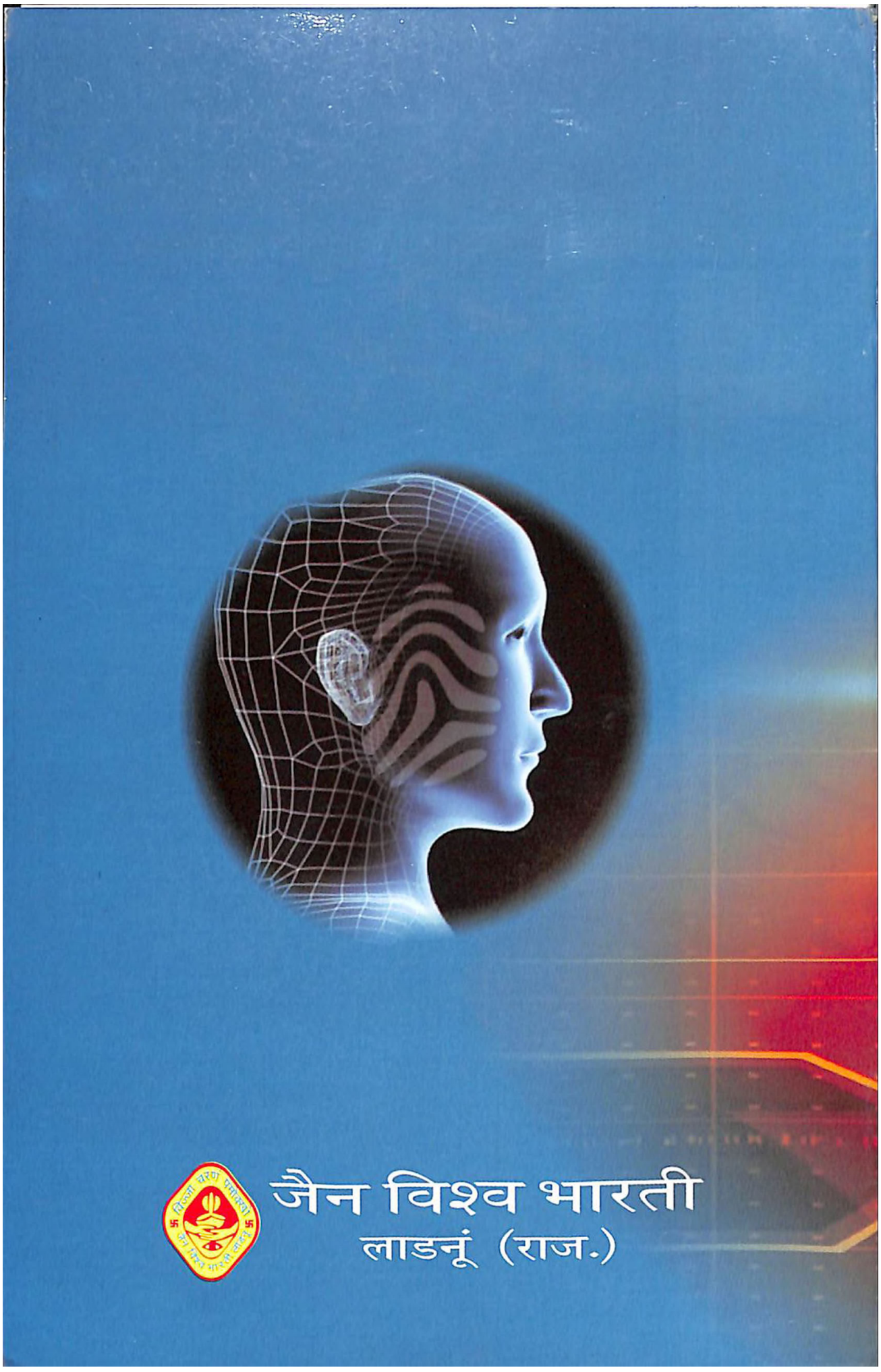

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org